भक्ति के नियम

१. भगवान् की भक्ति का प्रचार करना, गो रक्षण और उसके लिए गोचर भूमि छुड़वाना, जलाशय बनवाना, मनुष्य मात्र के लिए शिक्षा का प्रचार करना, वैदिक अनुभूत औषधियों का प्रचार करना, ग्रामों में परस्पर के झगड़े और वैमनस्य मिटा कर शान्ति व प्रेम बढ़ाना, सब संस्थाओं में भगवद्भक्ति और धर्म का भाव जाग्रत करना, राजा और प्रजा व ही का हित चिन्तन करना।

२. यह पत्र प्रतिमास की पूर्णिमा को प्रकाशित हुआ करेगा।

३. अग्रिम वार्षिक चन्दा सर्व साधारण से २) होगा

४. जो महानुभाव २५) रुपया देंगे वह पत्रके संरक्षक और ५) देने वाले सहायक होंगे

५. बाहर का कोई भी व्यापारिक विज्ञापन नहीं लिया जायगा।

६. लेखोंको प्रकाशित करना, न करना, घटाना, व बढ़ाना सर्वथा सम्पादक के अधिकार में होगा

७. लेख सम्बन्धी पत्र व्यवहार सम्पादक के नामसे और प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र व्यवहार मैनेजर भक्ति के नाम से होना चाहिए

८. जिन ग्राहकों के पास जिस मास की "भक्ति" न पहुंचे, उनको स्थानीय पोस्ट आफिस में पूछ कर उस मास की अमावस्या से पूर्व कार्यालय में सूचना भेजनी चाहिये स्थानीय पोस्ट आफिस में विना पड़ताल किये अथवा अमावस्या के बाद सूचना आने पर "भक्ति" नहीं भेजी जायगी

९. पत्रोत्तर के लिये जवाबी, कार्ड भेजना चाहिये।

विषय सूची।

विषय	लेखक	पृष्ठ
१. वेदोपदेश		२२०
२. समाधान	[ले० श्रीमती बहिन जयदेवीजी	२२१
३. श्याम की छवि (कविता)	[ले० श्री हनुमानप्रसाद जी 'सैनिक'	२२८
४. अपना दोष देखना तथा प्रभु की भक्ति की महिमा समझना ही भक्ति मार्ग है	[ले० श्री स्वामी आत्मानन्द जी	२२८
५. गोपी सन्देश (कविता)	[ले० श्री रामसेवकसिंह जी 'श्याम'	२३०
६ ईश्वर निराकार ही नहीं साकार भी है	[ले० श्री सुरेशचन्द्रदत्त जी	२३१
७. स्वपद विवेक	[ले० श्री महात्मा राम	२३२
८. अभिलाषा (कविता)	[ले० श्री मदनगोपाल जी 'सिंहल'	२३५
९. क्वचिदन्यतोऽपि	[ले० श्री मधुमङ्गल जी मिश्र बी० ए०	२३५
१०. तुलसी की (कविता)	[ले० श्री गंगाविष्णु जी पांडेय विद्या भूषण	२३७
११. सार्वभौम-योग	[ले० श्री पं० शिवप्रसाद जी शास्त्री	२३८
१२. भावना (कविता)	[ले० श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी	२४३
१३. पुराण गाथा	[ले० श्रीस्वामी भोले बाबाजी	२४४
१४. अवतार सम्प्रदाय और श्रीरामकृष्ण	[ले० श्रीस्वामी मेधेश्वरानन्द जी	२४९
१५. भजन		२५१

REGD. No. L. 2077

भक्ति प्रेस में मिलने वाली पुस्तकें।

१.	भगवद्गीता संस्कृत तथा भाषा टीका सहिता	मूल्य	॥=)
२.	भगवद्गीता दशम अध्याय पर्यन्त ...	,,	।=)
३.	वेदोपनिषद्	,,	।)
४.	अष्टोत्तरशतमन्त्रमाला	,,	।)
५.	ज्ञानधर्मोपदेश	,,	।)
६.	भक्ति ज्ञान योग संग्रह	,,	।)
७.	सत्य शब्द संग्रह (गुटका)	,,	।)
८.	सत्य शब्द संग्रह	,,	।=)
९.	शब्दसंग्रह	,,	।)
१०.	सारसंग्रह	,,	=)
११.	भाषा फक्किका प्रकाश	,,	।=)
१२.	भगवद्भक्तांक	,,	॥=)
१३.	भगवदंक	,,	॥)
१४.	गवांक	,,	।)

नोटः-एक रुपये से कम मूल्य की पुस्तक मंगाने वालों को डाक महसूल सहित टिकट भेजने चाहियें।

मिलने का पताः-

श्री भगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी।

मुद्रक तथा प्रकाशक ब्रह्मानन्द ब्रह्मचारी "भक्ति प्रेस" भगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी।

प्रेमोन्मादिनी विदुर पत्नी ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ गी० अ० ९।२६

जनता में भगवद्भक्ति भाव को जाग्रत करने वाली सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष ५ | श्री भगवद्भक्ति आश्रम रेवाड़ी, पौष पूर्णिमा सं० १९८७ | अङ्क ४

वेदोपदेश

पूषन्ननुप्रगाइहि यजमानस्य सुन्वतः। अस्माकं स्तुवतामुत ॥ १ ॥

वह "पूषा" परमात्मा शान्ति शीलादि गुणों के धारण करने वाले पुरुषों का सदैव रक्षक है ॥ १ ॥

माकिर्नेशन्माकीरिषन्माकीसंशारिकेवटे। अथारिष्टाभिरागहि ॥ २ ॥

उस "पूषा" परमात्मा की कृपा से हमारा वेद यं कदापि नष्ट न हो और हमारी शिल्पादि सब विद्यायें सदैव उन्नति को प्राप्त हों ॥ २ ॥

श्रुष्टवन्तं पूषणं वयमिर्यमनष्टवेदसं। ईशानं राय ईमहे ॥ ३ ॥

हे पूषन ! आप ऐसी कृपा करें कि हम सदैव आपके अनन्त गुणों का श्रवण करें और उस सर्व पोषक से ही हम ऐश्वर्य्य की याचना किया करें किसी अन्य से नहीं ॥ ३ ॥

पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन । स्तोतारस्त इहस्मसि ॥ ४ ॥

हे सर्वपोषक ! हम लोग आपके व्रत नियम में ही सदैव चलें,, आज्ञाओं को कदापि भंग न करें और सदैव आपके स्तुतिपाठक बने रहें ॥ ४ ॥

परिपूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणं । पुनर्नो नष्ट माजतु ॥ ५ ॥

हेसर्वपोषक ! आप अपनी सर्वोपरि शक्ति से हमारे ऐश्वर्य्य की सदैव रक्षा करें ॥ ५ ॥

समाधान

[ले० श्री मती बहिन जयदेवी जी]

एकाग्रता का नाम है समाधान, इसीको समाधि कहते हैं अंत सुजान, असमाधि बिना नहीं हो सक्ता कल्याण ! जिसको सिद्ध नहीं होता समाधान, उसको कभी प्राप्त नहीं होता किसी प्रकार का ज्ञान ! फिर कैसे प्राप्त हो सक्ता है आत्मज्ञान ? जो सिद्ध करलेता है समाधान, उसको प्राप्त होता है आत्मज्ञान, शीघ्र ही होता है, उस का कल्याण ! जितने सिद्ध महात्मा हुये हैं, सब समाधान के प्रताप से ही सिद्धि को प्राप्त हुये हैं ! मन बन्दर के समान है, कभी निचला नहीं बैठता, कुछ न कुछ उधेड़ बुन किया ही करता है, इधर उधर दौडता ही रहता है ऐसे२ मनोराज्य किया करताहै जिनका शिर है न पैर ! क्षणभर में कर आताहै चौदह भुवनों की सैर ! ऐसा चंचल मन ही निःश्रेयस के मार्ग का रोकने वाला है । चंचल मन से लोक परलोक कहीं का भी कार्य नहीं हो सक्ता । समाधान से चंचल मन वश में आजाता है और मनुष्य को गंतव्य स्थान पर पहुंचा देता है, गंतव्यस्थान का नाम ही विष्णु का परमधाम है, इसीको मोक्ष कहते हैं, इसीका नाम अपवर्ग है, इसी को ब्रह्मवेत्ता कैवल्य कहते हैं, कैवल्य पद परम सुख रूप है, वहां पर दुःख का लेश मात्र भी नहीं है, सुख ही सुख है । यह पद समाधान से प्राप्त होता है, इसलिये मुमुक्षुओं को छोट २ रोचक कथायें सुना कर समाधान का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया जाता है –

(१) गुरु नानक महाराज सिक्खों के गुरु एक मुसलमान नवाब के शहर में सैर करते २ पहुंचे। बहुत से स्त्री पुरुष उनके दर्शन करने आने लगे। जब नवाब को यह मालूम हुआ कि यह फकीर नमाज नहीं पढ़ता, तो उसको बड़ा आश्चर्य हुआ, उसने इन को अपने दरबार में बुलाया और नमाज पढ़ने की आज्ञा दी । बाबा नानक मुसकरा कर कहने लगे–

बाबा–अजी नवाब साहब ! नमाज खुदा को

इबादत है, खुदा की इबादत से मैं कब इनकार कर सक्ता हूं, आप शुरू कीजिये, आपके पीछे मैं भी नमाज पढ़ूंगा ? क्यों नहीं पढ़ूंगा ? अवश्य पढ़ूंगा ! शर्त यह है कि नमाज दिल लगा कर पढ़नी चाहिये, यदि इमाम (नमाज पढ़ाने वाले) ने दिल से नमाज न पढ़ी, तो पीछे खड़े होने वालों से क्या उम्मेद (आशा) है ?

नवाब-यह सुनकर नमाज पढ़ने लगा परन्तु बाबा साहब यों ही खड़े रहे। नमाज के बाद, नवाब को मालूम हुआ कि बाबा साहब ने नमाज नहीं पढ़ी, क्रोधित होकर कहने लगा नमाज क्यों नहीं पढ़ ? बाबा साहब हंस कर कहने लगे नवाब साहब ! आप तो काबुल में घोड़े खरीद रहे थे, मैं किस के पीछे नमाज पढ़ता ! नवाब लज्जित हो गया ! बात यह थी कि नवाब को घोड़े खरीदने थे, नमाज पढ़ने में उसका मन उधर ही चला गया, नमाज के बदले काबुल में घोड़े खरीदता रहा ! सच कहा है-

'मनका फेरत जुग गया, गया न मन का फेर।
कर का मनका छोड़कर, मनका मनका फेर ॥'

'माला हाथ में मन है बरात में' तो भला माला फेरने से क्या हाथ में आने वाला है ! अन्त में हाथ ही मलने पड़ेंगे।

(२) ईश्वरचन्द्र विद्यासागर नाम के एक बड़े उदार सेठ थोड़े दिन हुये कलकत्ते में हो चुके हैं। यह समाधान में प्रसिद्ध थे। जब पुस्तक हाथ में लेकर पढ़ना आरंभ करते थे तो इनको यह मालूम नहीं रहता था कि मैं कौन हूं और कितनी देर से पढ़ रहा हूं। पुस्तक के विषय में पूर्ण मग्न हो जाते थे। मदर्सों की इन्सपेक्टरी के बड़े पद पर नियत थे किन्तु वेष साधारण रखते थे, वह ही बंगालियों की ढीली ढाली धोती और दुपट्टा और नंगा सिर ! इनको देख कर कोई पहिचान नहीं सक्ता था कि बड़े भारी पण्डित हैं या सरकारी ओहदेदार हैं। एक बार रेल में बैठे हुये दौरे में जा रहे थे, दिल बहिलाने को एक पुस्तक पढ़ने लगे, पढ़ने में ऐसे निमग्न हो गये कि अपनी परायी सुध भूल गये और जिस स्टेशन पर उतरना था, उस से पचास मील आगे निकल गये। जब टिकट चेक करने वाले ने टिकट देखा, तब होश आया बहुतेरा कहते हैं कि भाई ! मैं किताब पढ रहा था, पढ़ने में खयाल नहीं रहा, आगे चला आया ! टिकट चेकर इनकी बात एक नहीं सुनता ! इनके सादे वेष से समझा कि कोई धोखे बाज है, रेल का किराया मारा चाहता है ! हाथ पकड़ कर इनको उतार लिया और कहने लगा ज्यादा बक २ मत कर ! तू विद्यासागर तो है नहीं कि किताब पढ़ने में मग्न हो गया !' विद्यासागर अपना नाम सुनकर मुसकराने लगे ! दैवयोग से स्टेशन का एक आदमी उनको जानता था, उसने कहा-'हां ! भाई !' यह विद्यासागर ही हैं !' फिर तो इनको बड़े मान से उतार लिया और दूसरी ट्रेन में लौटा दिया। इसका नाम समाधान है।

(३) सर आईजक न्यूटन एक प्रसिद्ध दार्शनिक हुये हैं, जिन्होंने पृथिवी की आकर्षण शक्ति का खोज लगाया है। एक दिन इनका एक मित्र इन से मिलने आया। आपने उसे दूसरे दिन साथ भोजन करने को निमंत्रण दे दिया। वह इनके स्वभाव को जानता था कि विचार में मग्न होकर दीन दुनियां सब को भूल जाते हैं। जब दूसरे दिन आया तो बावर्ची से आकर पूछा कि कितने मनुष्यों का भोजन बना है। बावर्ची ने कहा कि मात्र एक का बना है तब तो वह चित्त चुप चाप इनके कमरे में आकर

बैठ गया जब बावर्ची खाने को रकाबी रख गया, तब मित्र पेट भर और रकाबी को ढांक कर अपने स्थान पर चुप चाप बैठ गया। जब न्यूटन साहब विचार से निवृत्त हुये, तो मेज के पास गये क्या देखते हैं कि रकाबी ढकी हुई है, परन्तु सिवाय झूंठन के उस में कुछ नहीं है, कहने लगे 'वाह! क्या अच्छी बात है। खाना तो सामने है और मैं भूखा हूं!' मित्र खिल खिला कर हंस पड़ा और कहने लगा 'अजी. मैंने खाना खाया है, आपने नहीं खाया! यह समाधान है।

(४) एक दार्शनिक की शादी का दिन था। ग्यारह बजे गिरजे में जाना था। आपने साढ़े नौ बजे कपड़े बदलने शुरू किये और सुन्दर वस्त्रों से शरीर को सजाने लगे। सजावट करते २ यह विचार आया कि दूल्हा, दुल्हन को दिव्य वस्त्र क्या धारण करने चाहियें, यह सजावट का व्यापार कब से प्रारंभ हुआ कहां आरंभ हुआ? इसका मुख्य कारण क्या है? शृंगार से इसका क्या सम्बन्ध है? इस उधेड़ बुन में साहब ऐसे निमग्न हो गये कि बारह बज गये दूल्हन और दुल्हन के सम्बन्धी गिरजे में नियत समय पर पहुंच गये थे! देर हो जाने से सब को चिंता हुई कि दूल्हा जी को क्या हो गया? एक मनुष्य को खबर लेने दौड़ाया। इसने आकर क्या देखा कि पतलून का एक पायचा पहिन चुके हैं, दूसरा पांव में डाले हुये किसी विचार में गुम सुम बैठे हुये हैं! यह समाधान है।

(५) स्वामी रामतीर्थ जब वेदान्त का व्याख्यान करते और शास्त्र के किसी सूक्ष्म सिद्धांत को समझाते थे, तो उनके ओष्ठों पर मुसकराहट आजाती थी, अनार का सा लाल रंग का चेहरा फूलके समान खिल जाता था, आंखों से प्रज्ञा वर्षने लगती थी, मधुर और चित्ताकर्षक वाणी की धारा बहते २ अचानक रुक जाती थी, मुख और नेत्र खुले के खुले रह जाते थे। उनके शिष्य उनकी समाधि की अवस्था को भली प्रकार जानते थे, दायें बायें बैठे रहते थे, जब स्वामी जी को चुप देखते थे तो तीन चार खड़े होकर ॐ २ का शब्द उच्चारण करते थे, ॐ के शब्द की गूंज से स्वामी जी को होश आजाता था और जब कोई सम की बात आजाता था, तो फिर मूर्छित से हो जाते थे। यह समाधान है।

(६) एक बाई जी के यहां रात्रि के आठ बजे सत्संग हुआ करता था, कई प्रेमा बहिनें वहां जाया करती थीं, मैं भी सत्संग का लाभ उठाने चला जाया करता था क्योंकि ऐसा अवसर भाग्य से प्राप्त होता है। एक कोकिला वयनी बहिन तुलसकृत रामायण की चौपाई गाती थी, दूसरी हार्मोनियम बाजे पर उस का साथ देती थी, जब चौपाई समाप्त हो जाती थी, तो साध्वी बाई जी अर्थ कहा करती थी! बस! कुछ न पूछो कि कैसा अमृत का रस कानों में पड़ता था! यह सत्संग घंटे डेढ़ घंटे होता था, नो दस बजे सब बहिन घर चली आती थीं। दिवाली की रात्रि का वृत्तांत है कि हम लड़कियों ने नियमानुसार चौपाइयां गाईं और बाई जी ने अर्थ किये। कुछ ऐसा समाधि था कि समय मालूम ही नहीं हुआ! बाई जी अर्थ करती हुई अमृत का समुद्र बहा रही थीं! जब उन्होंने अर्थ करना समाप्त किया तो क्या देखा कि गाने वाली और बजाने वाली दोनों सो गयी हैं. घड़ी देखा तो मालूम हुआ कि दो बज गये हैं, यह नहीं खुला कि कहां बैठे हैं और कितना समय चला गया है। यह समाधान का स्वरूप है।

एक बहिन मेरे पास रामायण सुनने आया करती थी। जब कभी कोई मर्म की चौपाई आजाती थी, तो वह तन बदन की सुध भूल कर आनन्द सागर में डूब जाती थी। मैंने उससे पूछा कि हे बहिन! तुझे ऐसा अभ्यास कैसे हो गया, तो वह इस प्रकार कहने लगी-

हे बहिन! मैं एक पंडित की बेटी हूं। मैंने अपने पिता से वेदान्त शास्त्र पढ़ा था। छोटी बड़ी वेदान्त की पुस्तकें समझ लेती थी परन्तु समाधि और अनुभव का जो आनन्द पुस्तकों में वर्णन किया है, वह मुझे प्राप्त नहीं होता था। पुस्तक हाथ में लेकर बैठती थी, तो मनोराज्य के घोड़े बाजार में दौड़ते फिरते थे। ध्यान करने बैठती थी, तो मन बन्दर के समान चञ्चलता कूदता कहीं का कहीं चला जाता था। एक दिन मैंने अपने पिता से इस प्रकार कहा-

मैं-हे पिता जी! मेरा मन बड़ा चंचल है, इस मन के हथकंडों से मैं तंग आगयी हूं! मुझे एकाग्रता का मार्ग बताइये कि जिससे मैं शास्त्र को आनन्द के साथ पढ़ सकूं और ध्यान का रस भी ले सकूं। आपने मुझे पढ़ाया है, तो गुण भी तो दीजिये!

पिताने मेरे सिर पर प्यार का हाथ फेरा और मेरे मन में उत्साह बढ़ाने के लिये कहने लगे-

पिता जी-हे पुत्री! मन को रोक कर समाधि की अवस्था प्राप्त करनी, यह आत्मोन्नति का द्वार है! तेरी यह बात सुनकर गार्गी के पिता वाचक्नु के समान मैं अपने को धन्य मानता हूं, भाव यह है कि मुझे अत्यंत ही प्रसन्नता हुई है। बेटी! तुझ पर ईश्वर की कृपा है, कुछ घबराने की बात नहीं है, समाधि अभ्यास के अधीन है। मार्ग मैं बताये देता हूं धीरे२ अभ्यास करना आरंभ कर! एक दिन वह आजायगा कि वेदान्त शास्त्र में जिस समाधि का वर्णन है, वह समाधि तुझे प्राप्त हो जायगी।

हे श्रेयाभिलाषिणी! मन को चलायमान करने वाले दो प्रकार के पदार्थ हैं, एक बाहर के और दूसरे आंतर-भीतर के। प्रथम बाहर के पदार्थों के पदार्थों से मन को हटाने का प्रयत्न करना चाहिये क्यों कि बाहर के पदार्थों से मन सहज में रुक सक्ता है, पीछे भीतर के पदार्थ से मन की रोक थाम करनी चाहिये। जितना अभ्यास बढ़ेगा, उतनी उन्नति होगी।

बाहर के पदार्थ इस प्रकार हैं जिस कमरे में हम बैठते हैं, यदि उसमें वायु और प्रकाश ठीक२ न आवेगा, तो पढ़ने अथवा ध्यान करने में मन नहीं जमेगा। यदि बहुत चिल्ल पुकार होगी, बहुत सा सामान रक्खा होगा अथवा प्रायः मनुष्य आते जाते होंगे, तो क्षण२ चित्त उचटता रहेगा। यदि अधिक गर्मी, अधिक सर्दी, नींद, थकान, आलस्य या शारीरिक व्याधि होगी, तो भी चित्त स्थिर न होगा। बाहर के साधनों में से मुख्य साधन शरीर का स्वास्थ्य है। मुझे तेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं मालूम होता। परमेश्वर का दिया हुवा घर में सब कुछ मौजूद है, घी मिठाई आदि पुष्ट भोजन तो करती है, काम काज कुछ नहीं करती, आलसी बंदी बन गयी है। आलसी मनुष्य कभी ध्यान नहीं जमा सक्ता, इस लिये प्रतिज्ञा करले कि घर का काम झाड़ू बुहारी, चौका आदि अच्छी तरह किया करूंगी, कुछ देर टहला करूंगी, पुष्टिकारक आहार नहीं किया करूंगी, भूख से कुछ कम खाया करूंगी। प्रथम इन बातों का अभ्यास कर, जब तेरा स्वास्थ्य ठीक हो जायगा तब फिर मुझ

से आकर पूछियो ! भीतर के साधन बताऊंगा।

यह बातें शाम के पांच बजे हुई थीं। दूसरे दिन से मैंने घर का काम काज करना शुरू किया हमारे घर से गंगा जी कोई मील भर हैं, बहुत सी बहिनें गंगा स्नान को जाय करती थीं। मैं भी उनके साथ स्नान करने चली गई। वहां से लौट कर दश बजे आयी तो आलस्य का नाम नहीं था, मन भीतर से प्रसन्न था, भूख भी लग रही थी, अम्मा ने रसोई तैयार कर ली थी, पिताजी भोजन कर चुके थे। मैंने भी भोजन किया परन्तु रोज से कुछ कम किया, फल यह हुआ कि सांझ होते ही कहां तो आलस्य मेरे सिर पर सवार होता था और खाटपर पड़ने को जी चाहा करता था, आज पुस्तक पढ़ने की इच्छा हुई। गीता लेकर छत के ऊपर के कमरे में चली गयी, वहां न तो चिल्ल पुकार थी, न अधिक सामान था, न कोई दूसरा प्रतिबंध था। दीपक बालकर पढ़ने लगी तो और दिनों की अपेक्षा अधिक मन लगा और आनन्द भी आया। फिर अंध आने लगी और मैं पुस्तक बंद करके सोगई। रात्रि को भोजन कम किया था, इस लिये तड़के ही आंख खुल गयी। नित्य कर्म से निवृत्त होकर स्नान किया। तारों की छांव सुहाना समय था, स्नान करने से ऐसा मन प्रफुल्लित हुआ कि कह नहीं सक्ती। मंत्र का जप आरंभ किया, तो ऐसा आनन्द आया कि पहिले कभी नहीं आया था। जप करके घर का काम काज किया, फिर, गंगा स्नान को चलीगई। लौट कर आयी, तो चित्त प्रसन्न था। छत पर उसी एकांत कमरे में जाकर पढना आरंभ किया। चिल्लपुकार थी नहीं किसी पुकार की धकाधक भी नहीं थी, मन में उमंग भरी हुई थी पढने में बहुत ही मन लगा। भोजन के समय तक पढती रही, इस प्रकार एक सप्ताह तक अभ्यास करने से मेरा शरीर स्वस्थ हो गया और मन भी प्रफुल्लित रहने लगा एकदिन मैं ने अपना वृत्तांत पिता जी को सुनाया तो बहुत ही प्रसन्न हुये और भीतर के साधन इस प्रकार बताने लगे-

पिताजी-बेटी ! मन में चिन्ता होनी, पुस्तक का विषय रोचक न होना गूढ विषय का समझ में न आना, यह भीतर के प्रतिबंध हैं। जब पढने में मन न लगे, तो विचारना चाहिये कि मन न लगने का क्या कारण है? यदि कोई चिंता हो, तो मन में से उसे निकालने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि चिंता में कोई कार्य नहीं होता। यदि विषय रोचक न होने से मन भागता हो, तो उस पुस्तक को ताक में रख देना चाहिये और ऐसी पुस्तक पढनी चाहिये, जिसमें मन लगता हो। ज्यों २ एकाग्रता बढती जाय त्यों २ धीरे २ अरोचक पुस्तकें लेनी चाहियें, उनमें भी मन लगने लगेगा। यदि गूढ विषय की पुस्तकें समझ में न आती हैं, तो प्रथम सरल विषय वाली पुस्तकें पढ, पीछे गूढ विषय वाला पुस्तकें पढना आरंभ कर, यदि फिर भी समझ में न आवें तो मेरे पास ला, मैं उसको समझा दूंगा और तू धीरे २ पढने लगेगी।

ये तीनों बातें मुझे बहुत ही भाईं, चिंता तो मेरे मन में रहती ही नहीं थी क्योंकि पिता माता सिर पर मौजूद थे ! हां ! वेदान्त के ग्रन्थ मुझे कठिन होने से अरोचक जचते थे। इसलिये मैंने उनको तो कुछ काल के लिये ताक में रखदिया। तुलसीकृत रामायण में बड़ा आनन्द आता था, इसको पढना आरंभ किया। इस पुस्तक में जहां २ वेदान्त के विषय आजाते थे, उनपर चिन्ह कर लेती थी और एकांत में दो२ तीन बार उनको विचारा करती थी, हे बहिन ! गोस्वामीजी

का वेदान्त बड़ा प्यारा वेदान्त है, अभ्यास करने से उसमें आनन्द आने लगा और ध्यान जमने लगा। पीछे मैंने अपने वेदान्त के ग्रन्थ निकाले। संस्कृतग्रन्थ यद्यपि पढ़े हुये थे परन्तु कठिन होने से समझ में नहीं आते थे, इस लिये उन को भी मैंने न छोड़ा विचार सागर तत्वानुसंधान आदि पथम पढ़ने आरंभ किये, थोड़े दिनों में उन को समझने लगी। जैसे पहिले मन भागता था, अब नहीं भागता था। जो पढ़ती थी, उसको पुस्तक बंद कर के विचारती थी, फिर स्मरण शक्ति से उसका विवरण करती थी। पहिले २ तो जी घबराया परंतु कुछ काल के अभ्यास से सिद्धांतों को अच्छी तरह से समझने लगी। फिर मैंने वेदान्त के प्रस्थानत्रय उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और गीता श्री शंकराचार्य के भाष्य सहित अपने पिता से दुबारा पढ़ी। अबतो मैं सब गूढ़ बातें अच्छी तरह समझने लगी और पढ़ने में बड़ा आनन्द आने लगा।

एक दिन मैंने पिता जी से कहा:-

मैं-पिता जी! अब मैं शास्त्रों को भली प्रकार समझने लगी हूं, शास्त्र पढ़ने में बड़ा आनन्द आता है, शास्त्र वासना शांत होने लगी है, शास्त्र के समुद्र से पार हो गयी हूं, अब मुझे ध्यान और समाधि के साधन बतलाइये।

पिता जी-(मुसकराकर) बेटी! अभी तू ने शास्त्र के शब्द ही पढ़े हैं उनके अर्थ पर ध्यान नहीं दिया, यदि अर्थ पर ध्यान देती, तो मुझ से यह प्रश्न कभी न करती! बेटी! अभ्यास करके तुझे कुछ बन जाना नहीं है, तू स्वयं सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप है, इस मिथ्या जगत् का तुझ में बिना कारण ही भान होता है? जगत् को स्वप्न समझ कर अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में मग्न रहा कर! मोह तेरा स्वरूप है, कहीं बाहर से लाना नहीं है। मोह का आवरण ज्ञान की दृष्टि से हटा दे, तुझे कुछ करना नहीं है!

पिताजी! मोह का आवरण हटाने का ही तो मैं आप से उपाय पूछती हूं, माया ने मुझे मेरा स्वरूप भुलादिया है, नहीं तो मोक्ष तो मेरा वास्तविक स्वरूप है ही! कोई प्यारे सम्बन्धियों को भूल जाता है, कोई अपनों को पराया मानता है, आश्चर्य तो यह है कि मैं अपने आपको ही भूल गयी हूं, दुनिया में मुझ सा पागल कौन होगा? जो अपने आपको ही नहीं जानती! कभी बालक होती हूं, कभी जवान होती हूं, कभी बूढ़ी होती हूं, कभी अज्ञानी बन जाती हूं, कभी ज्ञानी बन जाती हूं, अनेकता के अभिमान ने न मालूम मुझे क्या २ नहीं बनाया!

पिता जी-(मुसकराकर) मोह का आवरण हटाने के लिये यह ही अभ्यास पर्याप्त है कि बैठते, उठते, सोते, जागते, यह ही दृढ़ निश्चय बना रहे कि संसार स्वप्न है और मैं उस की देखने वाली सच्ची हूं। एक बाबा जी का कथन है:-

कुं-स्वप्ना है सारा जगत् तू द्रष्टा है सत्य।
सच्चा निज को मान रे, जग को जान असत्य॥
जग को जान असत्य, सत्य ईश्वर को भजरे।
सत्य आत्म रख शेष, दृश्य मिथ्या सब तजरे॥
भोला! यही विवेक, यहां कोई नहिं अपना।
सत्य एक परमात्म, विश्व सारा है स्वप्ना॥

बहिन! मैं तो इसी प्रकार अभ्यास किया करती हूं, इसलिये मुझे तो प्रत्येक क्षण समाधान स्वाभाविक ही बना रहता है।

बहिन की बात सुन कर मुझे बहुत ही प्रसन्नता हुई और उसे धन्यवाद देती हुई परमेश्वर से प्रार्थना करने लगी-हे विश्वेश! सर्वान्तर्यामी! सब

बहिन भाइयों को ऐसी सुबुद्धि दीजिये कि सब आप के गुणानुवाद गाते हुये, संसार से मुख मोड़ कर आप के संमुख रह कर परम शांति को प्राप्त हों!

ॐ तत्सत्!

श्याम की छवि।

[ले० श्री हनुमान प्रसाद शर्मा 'कविसैनिक']

निपरे बलबीर कलिन्दिजा तीर,
गहे द्रुम-डार निहार अली!
पर पीत कसे, बिजुरी दरपे,
परसे घन-स्यामल अङ्गअली!!
वह रूप लखा, करती है कहा,
पल टारत ना निज दीठि अली!
भरि लोचन क्यों न विलोकसि री?
भव मोचन मूरति मंजु अली!!

अपना दोष देखना तथा प्रभु की महिमा समझना ही भक्तिमार्ग है

[ले० श्री स्वामी आत्मानन्द जी]

बहुत से लोग प्रायः पूछा करते हैं कि धर्म क्या चीज़ है? धर्म की सब विधियां हम कैसे पालन कर सकते हैं क्योंकि कुछ लोगों से हम सुनते हैं कि प्रभु के अवतारों को मानना ही धर्म है। तब दूसरे लोग कहते हैं अवतारों को नहीं बल्कि एक ईश्वर को मानना ही धर्म है। कुछ लोग कहते हैं जीवदया करना धर्म है तो दूसरे कहते हैं बलिदान ही धर्म है; कुछ लोग कहते हैं कि मूर्ति पूजा धर्म है तो दूसरे कहते हैं कि अधर्म है। कुछ लोग कहते हैं पुनर्जन्म मानना धर्म है तो और लोग जवाब देते हैं कि इसे मानने की आवश्यकता नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि कर्म के नियम समझ कर उस का पालन करने में ही धर्म है क्योंकि कर्मों के नियमों से कोई बाहर नहीं जा सकता। तब दूसरे कहते हैं कि कर्म तो जड़ हैं और कर्म का फल दाता ईश्वर है, इस से ईश्वर की कृपा मानना ही धर्म है। श्राद्ध आदि शास्त्रोक्त क्रियाओं के करने का नाम ही धर्म है, ऐसा बहुत लोग मानते हैं तो दूसरे लोग कहते हैं कि ये क्रियायें जिनके लिये की जाती हैं उन्हें पहुंचती नहीं, इससे इन्हें करना व्यर्थ है।

कुछ लोग कहते हैं कि बाल विधवा का पुनर्विवाह करना धर्म है, तो दूसरे कहते हैं कि यह अधर्म है। कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य मात्र के साथ अभेद वृत्ति से भ्रातृ भाव रखना ही धर्म है, तो दूसरे लोग कहते हैं कि अधिकार भेदानुसार वर्णाश्रम धर्म का पालन करना ही धर्म है। कुछ कहते हैं कि ईश्वरसे जीव बना है, यह मानना धर्म है. तब दूसरे कहते हैं कि जीव ईश्वर का बनाया हुआ नहीं है किंतु अनादि है यह मानना ही धर्म है। कुछ कहते हैं कि विश्वास से ही तर सकते हैं,दूसरे कहते हैं इसमें कुछ नहीं रखा है ज्ञान से ही मोक्ष मिल सकती है। कुछ कहते हैं कि मुक्ति होने पर आत्मा परमात्मा से मिलजाता है यही धर्म है, तब दूसरे लोग कहते हैं कि आत्मा कभी किसी भी प्रकार से परमात्मा में मिल नहीं सकता, यह मानना धर्म है।

इस प्रकार एक दूसरे के विरुद्ध बहुतसी बातें हम

सुना करते हैं इनमें यह यह तो मुख्य विषय है किन्तु इन प्रत्येक विषयों के भीतर दूसरी सैंकड़ों क्रियायें होती हैं और उनमें भी बहुत सी बातें मान लेने के योग्य होती हैं। इन में यदि हम प्रवेश करें तो इनके चलन में हमें फंस जाना पड़ेगा और उनका निर्णय करने में कई जीवन व्यतीत करने पर भी कोई परिणाम न निकलेगा। ऐसा होने पर प्रसंगोपात बार बार ऐसी बातें सुना करते हैं जिस से हम सोच में पड़जाते हैं कि धर्म क्या है? इस का कोई छोटा अर्थ और सरल मार्ग मिल जाय तो अच्छा हो। इस बारे में एक भावुक जिज्ञासु के पूछने पर एक ज्ञानी महात्माने इस प्रकार उत्तर दिया।

अपना नित्र दोष ढूंढना और सर्वशक्तिमान् महान् प्रभु की महिमा समझना भी धर्म है। अपना दोष देखने से अपनी भूल तथा निर्बलता ज्ञात हो जाती है और पाप के स्थान तथा उन के कारण भी समझ में आजाते हैं। ऐसा होने पर हम में दीनता आजाती है और ज्यों२ दीनता आती जाती हैं त्यों त्यों सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की शरण में जाने की इच्छा बढ़ती जाती है। अनंतर प्रभु की शरण के बल से शुद्ध हुए जीव की समझ में प्रभु की अलौकिक महिमा आता जाती है। इस समय एक नन्हीं सी कीड़ी या पतंगे को देख कर वह प्रशंसा करने लगता है।

अहो! धन्य है, दयालु प्रभु! तू धन्य है! अनंत ब्रह्मांडका मालिक तू धन्य है। जीवों को जीवन देने वाला तू धन्य है, जबकि तूने इस छोटी सी कीड़ी में इतनी बुद्धि, इतनी शक्ति एवं अपना चैतन्य दिया है तब तुझ में ये सब कितनी मात्रा में विद्यमान होंगे? अहा! हा!! तूतो तूही है!!! तेरी खूबी कुछ और ही है! हे प्रभु! हे देवाधिदेव! हे सर्वशक्तिमान् अनंत ब्रह्मांड के नाथ! इस छोटे से पतंगे के पंखड़ियों में जो तूने कारीगरी की है, वह तेरे सिवा जगत में और कौन कर सकता है? इस पंखड़ी के भीतर का काम देखने योग्य है, उसके ऊपर का नाजुक अन्तर विचित्र है, उसके रेशों की समानता इन्जिनीयरी कला का उत्तम नमूना है। अस्तर के ऊपर का ढकना अजब आश्चर्य जनक है, इसके भीतर का भाव चमत्कारिक है और इस गुहा को फेरने वाली नली की रचना मेरी बुद्धि को चक्कर में डालदेने वाली है। इतनाही नहीं, इसके पंखों के रस की नली भिन्न है, रंग के परमाणु भिन्न हैं, हवा लेने की नलियां भिन्न हैं, बुद्धि पाने वाली शक्ति भिन्न है और नष्ट होने वाली शक्ति भी भिन्न है।

हे महान् प्रभु! एक पतंगे के पंख में इतनी खूबियां हैं ये शक्तियां कहां रहती हैं, मैं नहीं जानता कि तुझ में और कौन कौन सी खूबियां है, कैसे काम करती हैं, कैसे उत्पन्न होती हैं, किस किस के साथ इनका संबंध है, कौन सी वस्तु उनकी सहायक है, उनका क्या हेतु है और उनका किस में लय होता है? यह सब मैं कुछ नहीं जानता। हे दयासागर ज्ञान के भंडार, सर्वशक्तिमान् परमात्मा! जब तू एक पतंगे की पंखड़ियों में अपना इतना ऐश्वर्य भर सकता है तब मुझ में कितना ऐश्वर्य भरा होगा और तेरे पास कितना अधिक होगा? हेनाथ! मेरी बुद्धि यहीं रुक जाती है। अब तुझे छोड़कर और मैं क्या करूं, कहां जाऊं और किस का भजूं? प्रभो! हे प्यारे प्रभो!! हो परम प्रेमास्पद प्रभो!!! अब मेरा आनन्द जीवन और सर्वस्व तूही है। तेरे आकर्षण से निकल कर और मैं कहां जासकता हूं? अपना दोष तथा तेरी महिमा मालूम हो जाने पर अब किस

वस्तु में मेरा मोह रह सकता है ? यानी कदापि नहीं रह सकता। प्रभो ! हे नाथ ! ! हे शरणागतवत्सल ! अब तू मेरा और मैं तेरा हूं।

प्रिय पाठको ! इस प्रकार जीव प्रभु के साथ तन्मय हो जाय, तभी उसका जीवन सार्थक होसकता है और वह दुनियां के लिये भी उपयोगी हो सकता है और सिद्धांत भी उसके हृदय में अपने आप ही प्रकट होने लगते हैं। उसी सिद्धांत के अनुसार चल कर वह प्रभु प्रेम में ही अपना जीवन व्यतीत करता है। ऐसे भक्तों को यह दरकार नहीं रहती कि अमुक बात को मानना चाहिये और अमुक को नहीं मानना चाहिये क्योंकि वे स्वयं धर्म स्वरूप बन जाते हैं।

याद रखो यह सब अपना दोष देखने से तथा प्रभु की महिमा समझने से ही हो सकता है। इससे धर्म की बाहरी तर्क वितर्क को त्याग कर सरल तथा सत्य मार्ग का ग्रहण करने के लिये अपना दोष ढूंढने तथा प्रभु की महिमा समझने का प्रयत्न करो और ऐसा करने के लिये शुद्ध अन्तःकरण से दीनता पूर्वक सर्वदा प्रार्थना करो। योग क्षेम की किंचित् भी चिन्ता मत करो क्योंकि श्रीभगवान् ने अपने श्रीमुख से अर्जुन के प्रति कहा है:-

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

और इस बात को भी विचार कर चिंता न होनी चाहिये कि जब उसका नाम विश्वंभर है, वेद, शास्त्र, सन्त महात्मा भी कहते हैं तो बात ठीक कही है-

"का चिंता मम जीवनो यदि हरि विश्वंभरो जीयते।"

जब इस प्रकार निश्चिन्त होकर रहने लगे तो इसका फल श्रीभगवान् ने अपने श्रीमुख से अर्जुन के प्रति यही कहा है।

"शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः।
संन्यास योगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥"

बहुत कहने से क्या हमको तन, मन, धन से ईश्वर की शरण होकर इस दुःखागार संसार समुद्र को पार करना चाहिये। कमर बांध के खड़े होजाना चाहिये, देरी न करना चाहिये क्योंकि काल का क्या भरोसा कब आकर खड़ा हो जाय फिर वह किंचित् भी नहीं सुनता यह बात लोक प्रसिद्ध ही है इससे गाफिल न होना चाहिये।

गोपी सन्देश।

[ले० श्री रामसेवकसिंह 'श्याम']

हे यमुने इठलाती हो क्यों, करती कठिन प्रवाह।
छोड़ गये हैं, हरि पर तुमको, आती तनिक न आह॥
हा यमुने दया न तुम्हारे, जल में क्यों भंवर।
क्यों न डुबायी उसे भंवर में, वह दम्भी का मदचूर॥ १

तोड़ प्रेम पिञ्जर राधा के, श्री हरि गये विहाय।
अब क्या सघन कुञ्ज कानन में, जबती बंशी हाय॥
सूर्यसुते पैरों मैं पड़ती, कब आवेंगे श्याम।
दग्ध हृदय शान्त कब होगा, दर्शन कर घनश्याम॥ २

पिञ्जर पड़ी सारिका रोती, धरि श्री हरि का ध्यान।
श्री घनश्याम शब्द को सुनकर, चित्रवत् ज्यों अनजान॥
क्यों श्याम को नहिं कहती तुम, कहां गये घनश्याम।
सत्वर उन्हें मिलाओ जमुने, उन्मना देखि ब्रजबाम॥ ३

ईश्वर निराकार ही नहीं साकार भी है।

[ले० श्री सुरेशचन्द्रदत्त जी]

ईश्वर निराकार तो है ही, वह साकार भी है। "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" अर्थात् जो मनुष्य जिस भाव से भगवान् को भजते हैं उसी-रूप से उनको सिद्धि होती है। इसका तात्पर्य्य यह है कि जो निराकार ईश्वर का चिन्तन करता है उसको निराकार भगवान् की प्राप्ति होती है और जो साकार भगवान् को भजता है उसको भगवान् साकार रूप से दर्शन देते हैं। साकार निराकारकी कोई बात नहीं है। यह उपासक की इच्छा पर निर्भर है। तुलसीदास जी ने तो साकार निराकार का भेद ही नहीं माना है। उन्होंने अपनी रामायण में लिखा है:-

सगुनहिं अगुनहिं कछु नहिं भेदा,
गावहिं मुनि पुराण बुध वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई,
भक्त प्रेम वश सगुण होसोई॥

अर्थात् मुनि, पुराण, पंडित और वेद कहते हैं कि सगुण और निर्गुण में कुछ भेद नहीं है। जो निर्गुण ब्रह्म रूप रहित है, दिखाई नहीं पड़ता और उत्पन्न नहीं होता वही भक्त के स्नेहवश सगुण होता है। गीता में भी भगवान कृष्ण ने कहा है:-

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा, भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय, संभवाम्यात्ममायया॥

अर्थात् मैं अविनाशी स्वरूप अजन्मा होने पर भी सब भूत प्राणियों को ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को आधीन कर के योगमाया से प्रकट होता हूँ। गीता में अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से प्रश्न किया है।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

अर्थात् हे भगवन्! जो अनन्य प्रेमी भक्तजन निरन्तर आपके भजन ध्यान में लगे हुये आप सगुण रूप परमेश्वर को अतिश्रेष्ठ भाव से उपासते हैं और जो अविनाशी सच्चिदानंदघन निराकार को ही उपासते हैं उन दोनों प्रकार के भक्तों में अति उत्तम योग वेत्ता कौन है। भगवान् कहते हैं-

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्य युक्ता उपासते।
श्रद्धया परयो पेतास्ते मे युक्ततमामताः॥

अर्थात् मेरे में मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन ध्यान में लग कर जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुये मुझ सगुण रूप परमेश्वर को भजते हैं वे मुझे योगियों में भी अति उत्तम योगी मान्य हैं। इस से यही स्पष्ट होता है कि साकारोपासक योगी ही और योगियों में श्रेष्ठ है? क्यों श्रेष्ठ है? क्यों ऐसा भगवान् ने कहा? इस शंका समाधान का यहां कोई काम नहीं है। हमें यह जानना है कि भगवान् निराकार होने पर भी साकार हैं। अतः भगवान् के जितने अवतार हैं उनके साकार ही होने से हुये हैं। गीता में भगवान् ने स्पष्टतः कहा है:-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

अर्थात् हे भारत! जब जब धर्म्म की हानि और अधर्म्म की वृद्धि होती है तब तबही मैं अपने रूप को

रचता हूं क्योंकि साधुपुरुषों का उद्धार करने के लिये और दूषित कर्म करने वाले का नाश करने के लिये और धर्म स्थापन करनेके लिये प्रतियुग में प्रगट होता हूं। इसी आधार पर त्रेता में रामचन्द्र और द्वापर में कृष्ण अवतीर्ण हुये। अगर भगवान् साकार न होते तो अन्यायियों और पापियों का कौननाश करता। प्रहाद के लिये भगवान् को नृसिंह का रूप धरना पड़ा था और ध्रुव को भी सगुण होकर दर्शन दिये थे।

ईश्वर साकार भी है और निराकार भी है। निराकारोपासक "अहं ब्रह्मास्मि', कह कर ईश्वर को प्राप्त होता है और साकारोपासक 'वासुदेवः सर्वमिति' अर्थात् जो कुछ है भगवान् हैं ऐसा कहकर उनको प्राप्त होता है।

त्वंपद विवेक

गतांक से आगे।

पंचकोष विवेक

[ले० श्री महात्मा राम]

कोष तलवार के म्यान को तथा धनके भंडार को और कोषकार नामक जीव के गृह को कोष कहते हैं। इन कोषों की तरह अन्नमय आदिक पंच कोष भी आत्मा को आच्छादन करते हैं इस लिये यह भी कोष कहे जाते हैं। अन्नमय कोष। (२) प्राणमय कोष (३) मनोमय कोष। (४) विज्ञानमय कोष। (५) आनन्दमय कोष यह पांच कोषों के नाम हैं।

'अन्नमय कोष' माता पिता के खाये हुये अन्न के रज वीर्य द्वारा माता के उदर में उत्पन्न होता है। तथा जन्म से पीछे छोगादि अन्न करके वृद्धि को प्राप्त होता है और मरण के अनंतर अन्न रूप पृथ्वी में विलीन होता है ऐसा स्थूल शरीर अन्नमयकोष कहा जाता है।

यह जीवात्मा अपने असली स्वरूप को भूल कर इस अन्नमय कोष रूप स्थूल शरीरमें अहं भावना करता है और जीवात्मा के सुख दुख के अनुभव रूप भोग का स्थान है इसलिये स्थूल शरीर अन्नमय कोष कहा जाता है।

जन्म मरणादि धर्मों वाला, क्षण भंगुर अनियत स्वभाव, जड़, घटादिक पदार्थों के समान दृश्यमान अनेक अवयवों का समुदाय, अनन्त विकारों से संयुक्त यह अन्नमय कोष आत्मा होने के योग्य नहीं है। पंच भूतों का समुदाय तथा नेत्रादिक इन्द्रियां आत्मा से न्यारे हैं यह जो कुछ दृष्टि गोचर होरहा है सब अज्ञान से उत्पन्न हुवा है। और ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है। संकल्प से ही अनेक प्रकार की सृष्टि उत्पन्न होती है संकल्प शान्त होने पर सब नष्ट हो जाती है संकल्प तथा सर्व जगत् का एक आत्मा ही उपादान कारण है। जैसे रज्जू के असली स्वरूप को त्यागकर भ्रम से सर्प जानता है पश्चात् भय आदिक खेद को प्राप्त होता है तैसे आत्मा के सत्य स्वरूप को भूलकर मूढ़ बुद्धि पुरुष असत्य जगत् को सत्य जानता है पश्चात् अनेक जन्मजन्मान्तरों के दुःख भोगता है। और जब रज्जूके यथार्थ रूपको जान लेता है तब सर्प की भ्रान्ति तथा भय आदिक खेद नहीं रहते तैसे सर्व के अधिष्ठान रूप आत्मा के साक्षात्कार होने पर यह

दृश्यमान जगत् तथा जन्म मरणादिक सर्व दुःखों का अभाव हो जाता है।

प्राणमय कोष

पांच कर्मेन्द्रिय तथा प्राण मिलकर प्राणमयकोष कहाता है। यह प्राणमयकोष पूर्वोक्त अन्नमयकोष को व्याप्त करके अर्थात् प्राणमयकोष से संयुक्त होकर ही यह अन्नमयकोष रूप स्थूलशरीर समस्त क्रिया में प्रवृत्त होता है। कारण यह है कि प्राण रजोगुण का कार्य होनेसे क्रियाशक्तिवाला होता है। प्राणके विद्यमान् रहते ही यह स्थूलदेह कार्य में प्रवृत्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। यह प्राण वायुका विकार होने से तथा अन्दर व बहार आने जाने वाला होने से अपने इष्ट अनिष्ट को भी नहीं जानता न अपने आपको ही जानता है। अतएव यह प्राणमयकोष आत्मा नहीं हो सकता। आत्मा इन सब विकारों को जाननेवाला इनसे पृथक् है प्राण जड़ है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। प्राण परतन्त्र है आत्मा स्वतन्त्र है।

मनोमय कोष

पञ्च ज्ञानेन्द्रिय,तथा मन, मिलकर मनोमयकोष कहा जाता है।मनोमयकोष सब वस्तुओं में 'अहं''मम' भाव की कल्पना का हेतु है। तथा नाम आदि कल्पना भी मन से ही होती है, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय रूप पांच होता और विषय भोग रूप घृत तथा अनेक प्रकार की वासना रूप ईंधन से प्रज्वलित हुई यह मनोमय अग्नि समस्त प्रपञ्च को उत्पन्न करती है। संसार में जीवात्मा के बन्धन का हेतु जो अविद्या है वह मन ही है। मनसे अतिरिक्त कोई अन्य अविद्या नहीं है क्योंकि मन के स्फुरण काल में ही जगत् की प्रतीति होती है और मन के निःस्पन्दनकाल में जगत् का अभाव हो जाता है। स्वप्न काल में समस्त पदार्थों के अभाव होते हुए भी भोक्ता भोग्यादि विश्व को अपनी संस्काररूपी वासना से उत्पन्न करता है। यह सब मन का ही स्वभाव है, इसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में भी कुछ विशेषता नहीं है। सब कुछ मनका ही संकल्प है। तथा सुषुप्तिकाल में जब मन अपने कारण रूप अविद्या में विलीन होजाता है तब सब प्रपञ्च का भी अभाव होजाता है यह सब को विदित है। इसलिये पुरुष के वास्ते संसार की कल्पना का मन ही कारण है मन से अतिरिक्त संसार कोई वस्तु नहीं है। जैसे वायु से प्रेरित होकर मेघमण्डल आजाते हैं तथा पुनः अन्यत्र चलेजाते हैं इसी प्रकार मन से बन्धन होता है तथा मन से ही मोक्ष होता है; कहा भी है-

मन एव मनुष्याणां हेतु बन्धनमोक्षयोः

देह से आदि लेकर विषय भोगों में प्रीति करने से पुरुष-पशु के समान बन्धन को प्राप्त होता है और जब इन देहादि विषय भोगों में वैराग्य होता है तब यह पुरुष बन्धन से मुक्त हो जाता है। रज, तम गुण से मलीन हुआ मन बन्धन का हेतु है और सत्वगुण से शुद्ध हुआ मन मुक्ति का हेतु है। देह, इन्द्रिय, प्राण, रूप रज्जू से असङ्ग, चिद्रूप, आत्मा को संमोह करके बन्धन को प्राप्त कर नित्य प्रति 'अहं' 'मम' इस प्रकार मन अपने कल्पित किये हुये कर्म फल भोगों में भ्रमाता रहता है। इस वास्ते तत्त्वदर्शी पण्डितोंने मन को ही अविद्या नाम से कथन किया है।

मुमुक्षु जनों को मन का शोधन करना ही मुख्य कार्य है। मन के शुद्ध होने पर मुक्ति हस्तामलकवत् तत्काल ही प्राप्त हो जाती है। मनको शोधने का यही उपाय है 'मोक्ष में दृढ़ आसक्ति' विषय भोगों में

दृढ़ वैराग्य व्यवहारिक कर्मों की निवृत्ति अर्थात् संन्यास ग्रहण कर परमात्मा में पूर्ण श्रद्धा से जो पुरुष श्रवण, मनन, निदिध्यासन में निष्ठा वाला है वह बुद्धि के राजसी स्वभाव को निवृत्त करता है। यह मनोमय कोष भी आदि अन्त वाला तथा परिणामी होने से परमात्मा नहीं हो सकता क्योंकि दुःख रूप होने तथा विषयों का हेतु साधन होने से सब का दृष्टा जो आत्मा है, वह मनोमय दृश्यरूप नहीं हो सकता।

विज्ञानमय कोष

पञ्चज्ञानेन्द्रिय तथा बुद्धि मिलकर "विज्ञानमयकोष" कहाजाता है। यह विज्ञानमय कोष संसारबन्धन का कारण है। सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा के प्रतिबिंब की शक्ति को ग्रहण करके प्रकृति का विकार रूप तथा ज्ञान रूप क्रिया वाला निरन्तर देह, इन्द्रियादिकों में 'अहं' 'अहं' इस प्रकार का अभिमान करने वाला विज्ञान नाम वाला चतुर्थकोष है। यह जीवात्मा का 'अहं' स्वभाव अनादिकाल का है तथा जीव के समस्त व्यवहार का चलाने वाला है। तथा पूर्वकाल की वासना से बंधकर शुभाशुभ कर्मों का कर्ता तथा उसके फल का भोक्ता है और कर्मानुसार ही अधः ऊर्ध्व गतिको प्राप्तहोता है इस ही विज्ञानमय कोष की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, ये तीन अवस्थायें है और सुख दुःख का भोगने वाला तथा देह के आश्रित जो गृहस्थादि आश्रम तथा सन्ध्योपासनादि धर्म तथा यज्ञादि कर्म और शील व्रतादि गुण, इन में यह मेरा धर्म है तथा यह मेरा कर्म है इस प्रकार का अभिमान करता है और परमात्मा के अत्यन्त निकट होने के कारण यह अत्यन्त प्रकाश वाला विज्ञानमय कोष है। अतएव यह विज्ञानमय जिन पूर्वोक्त धर्मादिक उपाधियों में भ्रम से आत्म बुद्धि करके इतस्ततः घूमता रहता है वह हृदय में तथा प्राणों में ज्योति रूपसे स्फुरण होता हुआ तथा कूटस्थ आत्मा होता हुआ भी यह 'विज्ञानमय' उपाधियों के सम्बन्ध से कर्ता भोक्तारूप है। उपाधि के वश होकर यह विज्ञानमय बुद्धिके परिच्छिन्नत्व भाव को अपने आप में मानकर सर्वात्मक होकर भी सबको अपने से भिन्न मानता है जैसे घटआपको मृत्तिका से अलग माने। जैसे निर्विकार अग्नि भी चौकोरादि लोहे के आकार को प्राप्त होकर विकारवान् प्रतीत होता है, तैसे उपाधियों के सम्बन्ध वश होकर निर्विकार सदा एकरस रहने वाला भी आत्मा उपाधि के गुणों को अपने आप में अनुभव करता है, जो अपना आप ही दृष्टा है तथा निर्गुण है अकर्मण्य है, सब के अन्दर विद्यमान, ज्ञान स्वरूप, तथा आनन्द रूप होकर भी बुद्धि की भ्रान्ति से यह जीव भाव को प्राप्त होता है। सो यह सत्य नहीं है। क्योंकि मोह के निवृत्त होने पर जीवभाव स्वतः ही नहीं ठहरता। अवस्तु रूप होने से जब तक भ्रान्ति है तब तक जीव भाव है। क्योंकि मिथ्या ज्ञान और प्रमाद से उत्पन्न हुआ है। जैसे रज्जु स्थान में सर्प की प्रतीति भ्रान्तिकाल में ही होती है भ्रान्ति के निवृत्ति कालमें नहीं रहती। आत्माके साथ जो बुद्धि का सम्बन्ध है वह मिथ्या ज्ञानसे हुआ है उसकी निवृत्ति यथार्थ ज्ञानसे ही हो सकती है अन्यथा नहीं ब्रह्मात्मा के एकत्व भाव को विषय करने वाला ज्ञान यथार्थ ज्ञान है! यह ज्ञान आत्मा अनात्मा के विवेकसे सिद्ध होता है। इसलिये आत्मा, अनात्मा का विवेक ही कर्तव्य है। मिथ्या भावों की निवृत्ति होने पर ही सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा की हृदय स्थान में प्रतीति होने लगती है! इस वास्ते अहंकार आदि अनात्मक वस्तुओं का

सर्वथा निराकरण करना योग्य है। यह विज्ञानमय भी विकारवान् तथा जड़ और परिच्छिन्न होने से तथा दृश्यरूप और व्यभिचारी अर्थात् एक अवस्था में न रहने वाला अनित्य स्वभाव वाला होने से परमात्मा रूप नहीं है। विज्ञानमय कोष एक देशी है आत्मा सर्वदेश व्यापी है। विज्ञानमय दृश्य है, परमात्मा दृष्टा है। विज्ञानमय अनित्य है, परमात्मा नित्य है। इसलिये विज्ञानमय कोषका दृष्टा आत्मा विज्ञानमय से पृथक् है।

आनन्दमय कोष।

आनन्द स्वरूप आत्मा के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने वाली अज्ञान की वृत्ति जो प्रिय, मोद, प्रमोद गुण रूप से अपने इष्ट पदार्थ के लाभ तथा भोग होने पर उदय होता है अथवा पुण्य कर्म कर्त्ता के पुण्य के अनुभव काल में जिसका भान होता है जिस आनन्दमय को प्राप्त होकर प्राणीमात्र बिना प्रयत्न ही भले प्रकार आनन्दित होते हैं? इस आनन्दमय की विशेष स्फूर्ति तो सुषुप्ति अवस्था में ही होती है और यत्किञ्चित्स्पर्शेति स्वप्न, जाग्रत् में भी अपने इष्ट पदार्थ के दर्शनादि से होती है इसी आनंदमय को ब्रह्म का स्वरूप भूत आनंद कहा है॥

अभिलाषा

[ले० श्री मदनगोपाल जी 'सिंहल']

मोर पखा बिच पुष्प कली सिर बीच लसें, मुरली कर धारे।
काम लजे लख श्याम तनं मन मोहन हों कच घूंघर वारे॥
चारु कपोल सुकुंडल कण्ठहि माल लसे नयना रतनारे।
ये निज रूप दिखाय हरे नयना तरसे बिन दर्श तिहारे॥

क्वजिदन्यतोऽपि

[ले० श्री मधुमंगल जी मिश्र बी. ए.]

गतांक से आगे।

जो नहिं करइ राम गुण गाना, जीह सो दादुर जीह समाना॥

जिह्वा सती दार्दुरिकेव सूत,
न योपगायत्युरुगायगाथा॥(भागवत)

कुलिश कठोर निठुर सोइ छाती।
सुनि हरि चरित न जो हरषाती॥

तदश्म सारं हृदयं बतेदं,
यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः॥
न विक्रियेताथ यदा विकारो,
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥(भागवत)

जो गुण रहित सगुण सो कैसे, जल हिम उपल विलग नहिं जैसे

एको रसः करुण एव निमित्त भेदात्,
भिन्नः पृथक् पृथगिव श्रयते विवर्तम्॥
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारान्।
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥

(उत्तरचरित)

विबसहु जासु नाम नर कहहीं, जन्म अनेक रचित अघ दहहीं

पतितः स्खलितश्चार्तो संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥भाग०

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना, कर बिनु कर्म करै विधिनाना
आनन रहित सकल रस भोगी। बिन बाणी वक्ता बड़ जोगी
तन बिन परस नयन बिनु देखा, ग्रहै घ्राण बिनु बास अशेषा

अपाणि पादो जवनो गृहीता ।
पश्यत्यचक्षुः शृणोत्यकर्णः ॥
यो वेत्ति सर्वं नहि तस्य वेत्ता ।
तमाहुराद्यं पुरुषं पुराणम् ॥

जब २ होई धरमकी हानी । बाढ़हिं असुरअधम अभिमानी
करहिं अनीति जाइनहिं बरनी । सीदहिं बिप्रधेनु सुर धरनी
तब २ प्रभुधरि मनुज शरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जनपीरा
असुर मारि थापहिं सुरन राखहिं निज श्रुति सेतु ।
जग बिस्तारहिं बिशद यश, राम जन्म कर हेतु ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगेयुगे ॥ (गीता)

अथवा

यदा यदा हि धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः ।
तदानुभगवानीशः आत्मानं सृजते हरिः ॥(भाग०)

अथवा

भक्त भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल ।
करत चरित धरि मनुज तन सुनत मिटहिं भवजाल ॥

राजन् राउर नाम यश सब अभिमत दातार ।
फल अनुगामी महिप मणि मन अभिलाष तुम्हार ॥

लौकिकानां हि साधूनां अर्थ वागनुवर्तते ।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥

बसर चरित्र

इहि जग जामिनि जागहिं जोगी । परमारथी प्रपंच बियोगी ।
जानिय तबहिं जीव जग जागा, जब सब बिषयबिलास बिरागा ।
यानिशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः (गी.)

अथवा

जेहि निशि सकल जीव सुतहिं तव कृपापात्र जनजाते ।

संभावित कहं अपयश लाहू । मरण कोटि समदारुण दाहू ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते । (गी.)

अथवा

संभावितस्य स्वजनात्पराभवो ।
यदा स सद्यो मरणाय कल्पते ॥(भाग.)

श्वपच शबर खर अधम जड़ पामर कोल किरात ।
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात ॥

किरात हूणान्ध पुलिन्द पुक्कसा ।
आभीर कंका यवना खसादयः ॥
येन्ये च पापायदुपाश्रयाश्रयाः ।
शुद्धन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥(भाग.)

वृद्ध रोगवश जड़ धन हीना । अंध बधिर क्रोधी अति दीना
ऐसेहु पति करकिय अपमाना । नारि पाव यमपुर दुःख नाना

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जड़ो रोग्यधनोऽपि वा ।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥

श्रीमद्भागव

मैं अरुमोर तोर तैं माया । जेहवश कीन्हे जीव निकाया ।
ममेति मूलं दुःखस्य न ममेति च निर्वृतिः ॥

शान्तरस निर्देश

मम गुन गावत पुलक शरीरा । गदगद गिरा नयन बहनीरा
कामादिक मददंभ न जाके । तात निरन्तर बश मैं ताके ॥

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं ।
हसत्यभीक्ष्णं रुदति क्वचिच्च ॥

विलज्ज उद्गायति नृत्यते च ।
मद्भक्ति युक्तो भुवनं पुनाति ।
श्रीमद्भागवत

वर्षाकाल मेघ नभ छाये, गरजत लागत परम सुहाये ।

ततः पावर्तत पाकट् सर्व सत्व समुद्भवा ।
विद्योतमान परिधि विस्फूर्जित नभस्तला ॥ ३

लक्ष्मण देखहु मोर गण नाचत वारिद पेखि ।
गृही विरतिरत हरष जस विष्णु भक्त कहं देखि ॥

मेघागमोत्सवा हृष्टाःप्रत्यानन्दशिखण्डिनः ॥
गृहेषु तप्तानिर्विण्णा यथाच्युत जनागमे ॥

बन्द अघात सहैं गिरि कैसे, खलके बचन सन्त सहं जैसे ।

गिरयो वर्ष धाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः ।
अभिभूयमाना व्यसनै र्यथाधोक्षजचेतसः ॥

घन घमण्ड नभ गरजत घोरा, प्रियाहीन डरपत मन मोरा ॥

सान्द्र नीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः ।
अस्पृष्ट ज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मैव सगुणं बभौ ॥

क्षुद्र नदी भरि चल उतराई, जस थोरे धन खल बौराई ।

आसन्नुत्पथ वाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनु शुष्यतीः ।
पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविण सम्पदः ॥ १०

दादुर धुनि चहुं ओर सुहाई, वेद पढ़ैं जनु बटु समुदाई ।

श्रुत्वा पर्जन्य निनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः ।
तूष्णीं शयाना प्राग्यद्वद्ब्राह्मणा नियमात्यये ॥

हरित भूमि तृण संकुल समुझि परैं नहिं पंथ ।
जिमि पाखण्ड विवाद तें गुप्त भये सद्ग्रन्थ ॥

मार्गा बभूवुः सन्दिग्धाः तृणैश्छन्नाश्चसंस्कृताः
नाभ्यस्यमाना श्रुतयो द्विजैः काल हता इव ॥

बस सम्पन्न सोह महि कैसी, उपकारी की सम्पति जैसी ।
निसि तम घन खद्योतविराजा, जनु दम्भिन कर जुरा समाजा

हरिता हरिभिः शष्पैः इन्द्रगोपैश्च लोहिता ।
उच्छिलीन्ध्र कृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत्

तुलसी की ।

[ले० श्री गंगाविष्णु पाण्डेय विद्याभूषण 'विष्णु']

१

ऐहिक आमुष्मिक प्रेय-श्रेय दोनों ही इससे मिलते हैं ।
फल चार दिलाने वाली है श्रीमद् रामायण तुलसी की ॥

२

जो पढ़ते हैं इसको उनके सब कार्य सिद्ध होजाते हैं ।
त्रयताप मिटाने वाली है श्रीमद् रामायण तुलसी की ॥

३

है किया गया परिपूर्णतया श्रीरामचरित चित्रण इसमें ।
सन्मार्ग दिखाने वाली है मानस रामायण तुलसी की ॥

४

यह धार्मिक सामाजिक नैतिक शिक्षायें सबको देती है ।
शुभ पाठ पढ़ाने वाली है मानस रामायण तुलसी की ॥

५

इसकी कविता पढ़कर सहृदय आनन्द मग्न होजाते हैं ।
सत्कर्म सिखाने वाली है श्रीमद् रामायण तुलसी की ॥

६

ईश्वर के सच्चे भक्तों को यह प्राण सदृश ही प्यारी है ।
सब पाप छुड़ाने वाली है श्रीमद् रामायण तुलसी की ॥

७

है वेदों के सम मान्य सभी नर इसे प्रेम से गाते हैं ।
आपत्ति हटाने वाली है मानस रामायण तुलसी की ॥

८

जो सदा सुखी रहना चाहो तो 'विष्णु' ध्यान में लीन रहो ।
सौभाग्य जगाने वाली है मानस रामायण तुलसी की ॥

सार्वभौम-योग

[ले० श्री पं० शिवप्रसाद जी शास्त्री]

श्री विश्वनाथाय नमोऽस्तु तस्मै, येनोपदिष्टाऽद्भुत-योगविद्या
सम्पादनेऽभीष्टमलं जनानां, या कल्पवल्लीव विभातिभव्या ॥

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने गीता के छठे अध्याय में स्वयं अपने मुख कमल से योग विद्या तथा योगियों का अप्रतिम-प्रभुत्व वर्णन करते हुए, अर्जुन को इस प्रकार उपदेश दिया है कि 'हे अर्जुन' तुम योगी होजाओ क्योंकि-

तपस्विभ्योऽधिको योगीज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥

अर्थात् तपस्वियों से योगी श्रेष्ठ है और मैं यह मानता हूं कि ज्ञानियों से भी योगी श्रेष्ठ है। आत्मोन्नतिपरायण सब प्रकार के मनुष्यों में कृष्ण भगवान् ने योगी को श्रेष्ठ माना है। यह इस श्लोक से स्पष्ट विदित होता है। इसीलिये भगवान् अर्जुन को प्रेरणा करते हैं कि तुम योगी होजाओ। भगवान् का कहना है कि योगी होना तो दूर रहा योग में बुद्धि-संयोग होना भी पूर्व जन्म के बड़े भारी पुण्य कर्मों का फल है। वस्तुतस्तु योग ही एक ऐसी अद्भुत विद्या है कि जिससे मनुष्य इहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों सुखोंको पूर्ण रूपसे अनुभव कर सकता है। योग करते करते योगी के अन्दर ऐसी अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है कि वह उस शक्ति से संसार के असम्भव शब्द को सम्भव बना सकता है, अगम्य स्थान में गमन कर सकता है, लोक लोकान्तर जन्म जन्मान्तर के वृत्तांतों को जान सकता है, अतीत अनागत वर्तमान तीनों कालों के समाचारों को जान सकता है, वह परोक्ष पदार्थ को प्रत्यक्षवत् देखता है, अपने शरीर को पानी की तरह पतला कर देना, वायुकी भांति अदृश्य बना देना, अग्नि की भांति दाहक कर देना, आकाश की भांति अस्पृश्य कर देना, तथा सुमेरु की भांति ऊंचा और गुरु बना देना आदि योगी के लिये बाल क्रीड़ा मात्र प्रतीत होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के तथा इससे भी अधिक आश्चर्य्यकारी कार्य योगज शक्ति के बाहर नहीं हैं। योगी प्रकृति के ऊपर विजय प्राप्त कर प्रकृति को जिस प्रकार चाहे नचा सकता है। उसे किसी पकार का अभाव नहीं रहता। इच्छा मात्र से ही उसके समस्त कार्य होते रहते हैं। जीवका सबसे बड़ा पुरुषार्थ ईश्वर प्रत्यक्ष करना है। योग-विद्याके द्वारा ईश्वर साक्षात्कार करने का सामर्थ्य भी योगी जीव में उत्पन्न हो जाता है। इससे अधिक योग-विद्याका महत्व और क्या होगा। ऐसी परम कल्याणकारी अद्भुत्-योगविद्या का अनुष्ठान (अनुशीलन) जिस जीव ने नहीं किया वह जीवन पाकर भी मनुष्य जीवन के अनुपम फल से वञ्चित ही रहा, अर्थात् मनुष्य जीवनका लाभ कुछभी न ले सका। अब यहां पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिसके द्वारा परम कल्याण तथा अत्यन्त अखण्ड आनन्द प्राप्त होता है, जिस आनन्द के सामने उपरोक्त वर्णन की हुई आश्चर्यमयी सिद्धियां भी तुच्छातितुच्छ प्रतीत होती हैं उस योगका कौन स्वरूप है और किस प्रकार प्राप्त होता है ? इसका उत्तर क्रम से इस प्रकार दिया जाता है। महर्षि पतञ्जली जी ने

योगदर्शन में योग का लक्षण इस प्रकार किया है:-

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ।

चित्त वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। यहां चित्त शब्द से अभिप्राय अन्तःकरण से है। अर्थात् अन्तःकरण की वृत्तियों को रोक कर ब्रह्म स्थल में लय करने का नाम ही योग है। अथवा दूसरे शब्दों में योग के माने जोड़ना है यह कह सकते हैं। अर्थात् अविद्या में फंस कर जीवने अपने को परमात्मा से पृथक् मान लिया, इस पृथकत्व की जननी अविद्या में से जीव को अलग करके ईश्वर में जोड़ देने का नाम योग है। महर्षि पतञ्जलिजी ने योग दर्शन सार्वभौम दृष्टि से लिखा है। इसलिये वह मनुष्यमात्र का उपयोगी और आदरणीय है। बालक वृद्ध युवक स्त्री और पुरुष सभी अवस्थाओं तथा जातियों के मनुष्य मात्र योग दर्शन प्रतिपादित योग के अधिकारी हो सकते हैं। योग दर्शन में जहां अनेक असाधारण उपाय चित्तवृत्ति निरोध के बताये गये हैं वहां सर्व साधारण उपाय एक अष्टाङ्ग योग ही बताया गया है। इसलिये सर्वसाधारण के लिये अष्टाङ्ग योग ही योग सिद्धि का सर्वोत्तम तथा अव्यर्थ उपाय है। जब यह निश्चय हो चुका कि चित्तवृत्ति के निरोध का ही नाम योग है तो यह जानना आवश्यक हो गया कि यह कौन सी चित्त वृत्तियां हैं? कितने प्रकार की हैं? उनका कैसे निरोध हो सकता है? सत् असत् अर्थात् पाप पुण्य के विचार से वृत्तियों के दो भेद हैं। यथा-क्लिष्ट और अक्लिष्ट क्लिष्ट वृत्तियां वे कहाती हैं जिन से जीव सुखदायक पाप संग्रह करता है यथा-काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार इत्यादि, और अक्लिष्ट वृत्तियां वे कहाती हैं जिनसे दया, मैत्री, सरलता, क्षमा और शीलता आदि सुखदायक पुण्य संग्रह करता है। वैसे ही गुण भेद से अन्तःकरण (चित्त) की पांच भूमियां या अवस्थाएँ हैं। जब अन्तःकरण (चित्त) सत् असत् विचार रहित होकर आलस्य प्रमाद विस्मृति आदि के वशीभूत रह कर कुछ का कुछ करता रहता है। अर्थात् वे लगाम के घोड़े की भांति उन्मत्त होकर कहीं का कहीं भागता रहता है। चित्त की इस प्रकार की तमोमूलक प्रवृत्ति का नाम मूढ़ भूमि है। जब मन किसी एक कार्य में लग कर बुद्धि की सहायता से विचार करता हुआ किसी एक लक्ष्य का साधन करता रहता है। जैसे लगाम का घोड़ा या विचारवान् किसी पुरुष के चित्त की अवस्था होती है। वह क्षिप्त भूमि है यह दूसरी, क्षिप्त भूमि रजोगुण मूलक होती है। तीसरी भूमि वह है कि जब मन सुख दुःख, विचार, तमोगुण, रजोगुण आलस्य आदि की वृत्तियों से अलग होकर शून्य हो जाता है वह सत्वगुण की भूमि है। इस भूमि की प्राप्ति सांसारिक मनुष्यों में अत्यल्प काल के लिये कभी कभी हुआ करता है। अन्तःकरण की मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्तयह तीन वृत्तियां सब मनुष्यों में गुणों के भेद से साधारण रीति पर हुआ करती हैं। इन तीनों से मनुष्य का चित्त जब स्थिर हो जाय अर्थात् किसी प्रकार की वृत्तिही न उठे उसी चित्त की अवस्था को निरुद्धभूमि की अवस्था कहते हैं। यही योग का लक्ष्य है। इसी अवस्था की प्राप्ति के लिये योगशास्त्र में जो उपाय कहे गये हैं और स्वाभाविक चित्त की वृत्तियों से अलग एक नवीन प्रकार की जो भूमि है जो सद्गुरु के उपदेश दिये हुए साधन द्वारा ही होती है उस भूमि को एकाग्र भूमि कहते हैं। जब चित्त में ध्याता

ध्यान, ध्येय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रहता, तब ध्यान के द्वारा ध्येय पदार्थ में ही ध्याता का लक्ष्य जम जाने से उस भूमि का उदय होता है इस प्रकार मूढ़, क्षिप्त, यह दो असाधारण भूमियां मिल कर अन्तःकरण की पांच भूमियां कहाती हैं। प्रथम तीन भूमियां तो जीवमात्र में हुआ करती है। किन्तु शेष दो भूमियां केवल योगानुशासन के अधिकारी साधनों में ही हुआ करती हैं। एकाग्र भूमि में साधन करते करते साधक जब सिद्ध अवस्था में पहुंच जाता है तब उसके चित्त की ध्याता, ध्यान, ध्येय तीन अवस्थाएँ एक हो जाती हैं और एकाग्र भूमि के साधनों का अभ्यास करते करते योगी क्रमशः तटस्थ अधिकार से स्वरूप अधिकार में पहुंचने लगता है अर्थात् एकाग्र दशा में त्रिपुटी रहती है किन्तु क्रमशः साधन की उन्नति से निरुद्ध भूमिमें पहुंच कर त्रिपुटी और तटस्थ ज्ञान का लय हो जाता है। उसी अन्तिम निरुद्ध भूमि में क्रमशः समाधि की पूर्णता प्राप्त हो जाती है। निरुद्ध भूमि का उदय होकर योग की प्रथम सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है जिसमें त्रिपुटी की लयदशा होने पर भी उसकी अतिसूक्ष्म सत्ता अवश्य बनी रहती है। इसके अनन्तर त्रिपुटी की वह भी सूक्ष्म सत्ता एक बार ही नष्ट होकर विकल्प रहित स्वरूपावस्था की स्थिति हो जाती है। तब उस अवस्था को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्था में संस्कार का लेश भी नहीं रहता अतः इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं। यही चित्त वृत्ति का निरोध रूप योग है।

प्यारे साधको ? ऊपर हम कह आये हैं कि चित्त की वृत्ति के रोकने के उपाय योगशास्त्र में अनेक बतलाये गये हैं किन्तु सर्व साधारण अमोघ उपाय श्रीमहर्षि पतञ्जलिजी का अष्टाङ्ग योगही है। अष्टाङ्ग योग से साधक सुख और शान्ति पूर्वक योग की चरम सीमा तक पहुंच सकता है। योग के आठ अंग इस प्रकार हैं। यथा-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

तत्र अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः

अर्थात् इनमें से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, अपरिग्रह ये पांच यम कहाते हैं। इनमें से यदि एक एक का पृथक् पृथक् भली भांति विवेचन किया जाय तो बड़े बड़े निबन्ध तैयार हो सकते हैं अतः संक्षेप से मैं इनका अभिप्राय और फल कहूंगा। अहिंसा किसी प्रकार से किसी काल में किसी जीव को ईर्ष्या द्वेष बुद्धि से हानि न पहुंचाने का नाम अहिंसा है। जिस प्रकार अपने को क्लेश होता है वैसे ही प्राणीमात्र को क्लेश होता है ऐसा समझ कर प्राणीमात्र को किसी प्रकार का क्लेश न पहुंचाने को अहिंसा कहते हैं। अहिंसा साधन यमों में सर्व प्रधान है।

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ सर्वभूतेषु वैरत्यागः ॥

महर्षिजी ने अहिंसा साधन का फल इस प्रकार बताया है यथा-जब योगी के हृदय से हिंसा वृत्ति का संस्कार भी निकल जाता है पूर्ण रूप से अहिंसा की प्रतिष्ठा (स्थिति) हो जाती है तब उसके समीप आए हुए सब जीवों का वैरभाव भी दूर हो जाता है। अर्थात् उस समय हिंसक जीव भी उस महापुरुष के सङ्ग से अहिंसा वृत्ति धारण कर लेते हैं हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि सिंह व्याघ्रादि स्वभाव से हिंसक होते हैं यह अपने स्वभाव को कैसे छोड़ सकते हैं। इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा

सकता है कि सिंह व्याघ्रादि स्वाभाविक हिंसक नहीं होते यदि स्वभाव से हिंसक होते तो अपने पुत्र कलत्र आदि की भी हिंसा करते। किन्तु ये ऐसा नहीं करते। अतः जाना जाता है कि ये स्वभाव से हिंसक नहीं होते किन्तु इनके अन्दर तमोगुण का प्रभाव अधिक होता है इसलिये थोड़े ही कारण से इनमें तमोगुणी वृत्ति उत्पन्न हो जाती है और वे हिंसा करने लगते हैं किन्तु जहां इस कारण का अभाव होगा वहां हिंसा वृत्ति उठ ही नहीं सकती। अर्थात् जिस अहिंसक योगी में हिंसा वृत्ति का बीज तक नाश हो गया है उसकी पूर्ण शान्ति के प्रभाव से हिंसक पशु भी उसके समीप शान्त बन जायगा यह निश्चित सिद्धान्त है। यह विज्ञान और भी सूक्ष्म रीति से इस प्रकार समझने योग्य है कि हृदयाकाश ब्रह्माण्ड और पिण्ड में व्याप्त है इस कारण अन्तःकरण को भी व्यापक कहा गया है। जैसे एक ब्रह्माण्ड का समष्टि अन्तःकरण ब्रह्मा का अन्तःकरण है और प्रत्येक जीव का अन्तःकरण व्यष्टि अन्तःकरण है इसी प्रकार प्रत्येक जीव के अन्तःकरण का आकाश व्यष्टि आकाश है जिसको चित्ताकाश कहते हैं और एक ब्रह्माण्ड का समष्टि चित्ताकाश अर्थात् समष्टि अन्तःकरण का आकाश चिदाकाश कहाता है। समष्टि और व्यष्टि सम्बन्ध से ये दोनों मिले हुये हैं यही कारण है कि प्रेमियों का प्रेम परस्पर के अन्तःकरण में प्रतिफलित हुआ करता है। और यही कारण है कि योगियों का अन्तःकरण दूसरों के अन्तःकरण के भाव को जान लेता है अस्तु! जब योगी के हृदय में अहिंसा वृत्ति प्रतिष्ठित हो जाती है और उसके अन्तःकरण में हिंसोत्पादक आघात होने पर भी कभी हिंसा वृत्ति नहीं उठती तो उस समय उसके समीपस्थ जो अन्तःकरण होगा उसमें भी वही भाव स्वतः प्रतिफलित हो जायगा और ऐसा होने से हिंसक पशु का अन्तःकरण स्वयं ही हिंसा रहित हो जायगा। लघु शक्ति को गुरु शक्ति दबा लेती है। लघु शक्ति विशिष्ट पशु हृदय, गुरुशक्ति विशिष्ट योगी के हृदय के प्रभाव से स्वयं दब जायगा।

सत्य—वाणी और मन को निष्कपट करके जो वस्तु जैसी हो उसको वैसे ही प्रतिपादन करने का नाम सत्य है। महर्षि वेदव्यासदेव ने सत्य का अर्थ इस प्रकार किया है कि जो वाक्य छल कपट से भरा हुआ न हो, जो वाक्य भ्रान्ति रहित हो, जो वाक्य निरर्थक नहो, जो वाक्य सब प्राणियों का उपकारी हो और जिस वाक्य में जीवों को किसी प्रकार का क्लेश नहीं पहुंचे वही सत्य है।

सत्य का फल महर्षि पतञ्जलि इस प्रकार बताते हैं।

सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥

अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा से योगी के क्रिया न करने पर भी क्रिया फल का आश्रय हो जाता है। अर्थात् योगी जब पूर्ण रूप से सत्य का अभ्यास कर लेता है उसके मुख से असत्य वाक्य निकलता ही नहीं तो उसको वाक्य सिद्धि हो जाती है और वह जो कुछ मुख से वचन कहता है उसका फल अवश्य होता है जैसे योगी ने किसी मूर्ख को पण्डित कह दिया तो वह मूर्ख अवश्य पण्डित हो जायगा योगी को इसके पण्डित बनाने के लिये कोई क्रिया नहीं करनी पड़ेगी। और इसी तरह यदि वन्ध्या को पुत्रवती कह दिया तो अवश्य वह पुत्रवती हो जायगी दरिद्र को धनी कह

दिया तो वह अवश्य धनी हो जायगा इत्यादि । इसमें कोई कह सकता है कि असम्भव कैसे सम्भव हो सकता है । इसके उत्तर में यह कहा जासकता है कि योगी का अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से वह जो देखता है सो सब सत्य ही देखता है और उसका स्वभाव सत्यमय हो जाने से वह जो कुछ करता है सत्य ही करता है इसलिये जैसा होने वाला होता है उसका अन्तःकरण उसको देख लेता है और फिर उसके मुख से वैसा ही निकलता है ।

अस्तेय–निषिद्ध रीति से दूसरे के द्रव्य को लेना अर्थात् बिना दिये और बिना कहे दूसरे के पदार्थ को हरण करने का नाम चोरी है इस वृत्ति का अभाव हो अर्थात् अन्तःकरण के इस वृत्ति से रहित होने को अस्तेय कहते हैं ।

अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपलब्धिः ॥

अर्थात् अन्तःकरण में अस्तेय की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा हो जाने पर सम्पूर्ण रत्नों की स्वयं प्राप्ति होती है जब साधक ऐसा अभ्यास कर लेता है कि लोभ की मात्रा ही उसमें नहीं रहती तो फिर उसमें चोरी की वृत्ति उठती ही नहीं तब समस्त संसार के प्राणीमात्र उसका विश्वास करने लगते हैं और बिना ही इच्छा के सुन्दर सुन्दर पदार्थ उसके समीप आते रहते हैं । जब तक मनुष्य के हृदय में इच्छा रहती है तभी तक उसको अभाव का अनुभव होता है और लोभ रूपी अभिलाषा के दूर होने से साधक के सब अभाव भी दूर हो जाते हैं । और संसार का कोई पदार्थ उसके लिये अप्राप्त नहीं रह जाता है । गंभीर दृष्टि से विचार किया जाय तो मालुम हो जायगा कि मनुष्यों को अभाव का अनुभव पूर्व जन्म के कर्मानुसार ही होता है पूर्व जन्म में जिस मनुष्य ने जिन पदार्थों का दुरुपयोग किया है अथवा अथवा संग्रह किया है, जन्मान्तर में उस मनुष्य को उन्हीं पदार्थों का अभाव विदित होता है । जब योगी के अन्तःकरण में अस्तेय वृत्ति की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा हो जाती है तब अभाव उत्पादक कर्मों के संस्कारों का भी नाश हो जाता है और यही कारण है कि ऐसे योगियों को कोई पदार्थ अलभ्य नहीं रहता है ।

ब्रह्मचर्य–स्थूल रूप में ब्रह्मचर्य्य का अर्थ जनन-इन्द्रिय को वश में रखना है अर्थात् स्मरण कीर्तन केली आदि अष्टविध मैथुन परित्याग पूर्वक मनोदमन द्वारा वीर्य की रक्षा करने को ब्रह्मचर्य्य कहते हैं ।

ब्रह्मचर्य्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥

ब्रह्मचर्य्य की जब पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा (स्थिरता) हो जाती है तब साधक को शारीरिक और मानसिक दो प्रकार का वीर्य प्राप्त होता है शरीर में वीर्य ही प्रधान धातु है । इसके निरोध से शरीर बलिष्ठ होकर पूर्णता को प्राप्त होता है और इसके नाश से शरीर अनेक प्रकार की यातनाएँ भोगता हुआ शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । ब्रह्मचर्य्य से शरीर आरोग्यवान् कान्तिमान् सुदृढ़ और वीर्यवान् होता है और शरीर वीर्यवान् होने से मन भी वीर्यवान् होता है क्योंकि शरीर और मन का एक ही सम्बन्ध है निर्बल मन संसार के किसी भी उत्तम कार्य को पूर्ण नहीं कर पाता । वीर्य, मन, और प्राणवायु इन तीनों में से एक को वश कर लेने से शेष दो अपने आप वश में आजाते हैं योगी के लिये ब्रह्मचर्य्य की अत्यन्त आवश्यकता है बिना ब्रह्मचर्य्य के योग सिद्धि कदापि नहीं हो सकती पूर्ण ब्रह्मचारी के शरीर में एक और आठवीं धातु अधिकता से उत्पन्न होती है जिसे

ओज कहते हैं। यह ओज जिसके मुख में होता है उसका मुख दर्पण के समान प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है। जैसे दर्पण सम्मुखस्थ वस्तु का प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है इसी प्रकार ओजस्वी मुख में सम्मुख आये हुए सर्व पदार्थ प्रतिफलित हो जाते हैं। कोई कोई वर्चस को ही ओज कहते हैं। ब्रह्मचर्य्य का पूर्ण पालन करने से शरीर तथा मन की गुप्त शक्तियां जागृत होती है जिससे ब्रह्मचारी असाधारण शक्तिशाली बनकर पूर्ण सुखी तथा संसार को चकित करने वाला होता है। ब्रह्मचारी के शरीर में एक खास शक्ति का उदय होता है जिसे विद्युत शक्ति या आकर्षण शक्ति कहते हैं। इस शक्ति के अभाव से उस शक्तिमान् ब्रह्मचारी के सम्मुख कोई प्रतिकूल विचार नहीं उत्पन्न कर सकता। और जब ब्रह्मचारी में यह शक्ति अधिक बढ़ जाती है। तब उसके परोक्ष में भी उसके प्रतिकूल विचार करने का साहस किसी को नहीं होता। धर्म शास्त्रों में लिखा है कि ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्य्य के प्रताप से, नर्क में पड़े हुए अपने पितरों को स्वर्ग भेजने में समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य्य के तप से देवताओं ने मृत्यु को जीता। ब्रह्मचर्य्य की ही रक्षा से मनुष्य वृद्धावस्था को जीत कर स्थिरयौवन भोग सकता है। मनुस्मृति में लिखी हुई तिथियों के अनुसार केवल सन्तान उत्पत्ति की अभिलाषा से जो स्त्रीसहवास करता है वह मनुष्य गृहस्थ होते हुए भी ब्रह्मचारी कहाता है। विधवा यदि पति के देहान्त के पश्चात् ब्रह्मचर्य्य से रहती है तो अपने ब्रह्मचर्य्य के प्रभाव से पतिव्रता कहाती हुई स्वर्ग को जाती है तथा अपने पति को भी स्वर्ग ले जाती है। विषय वासनाओं से बच कर मनुष्य किस प्रकार अखण्ड ब्रह्मचर्य्य से रह सकता है। बिन्दुजय किस प्रकार होता है? ऊर्ध्वरेता होने के उपाय क्या हैं अशुद्ध तथा अशक्त शुक्र शोणित को पुष्ट तथा विशुद्ध बनाने के उपाय क्या हैं? यह सब मैं अपने अनुभूत तथा अवश्यं उपाय किसी दूसरे लेख में लिखूंगा।

अपूर्ण

भावना :

[ले० श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी आश्रम]

दरश दिखलाओ ए दिलदार, हृदय में करदो ज्ञान उजार।
तुम्हारा प्रेम रूप वह भान, मुझे अब करता है अनजान।
विरह से चित्त हुवा अतिम्लान, वेदना बढ़ी असीम महान॥
सहमना हुवा मुझे दुश्वार॥१॥

विभव ये भवके हैं दुःखमूल, तुम्हीं हो प्राणपति? सुखमूल।
तुम्हारे बिन जीवन है धूल, विश्व व्यामोहित अपनी भूल॥
मात्र तव नाम जीवनाधार॥२॥

अनुनयी अब भी जीव अनन्त, तुम्हें भजते हैं साधु सन्त।
जिन्हों के प्राण जीवनधन कन्त, तुम्हीं कहलाते हो भगवन्त॥
हृदय में जगमग ज्योति अपार॥३॥

प्रेम का प्रोज्वल जीवनहार, तुम्हें अर्पण है प्रेमाधार।
प्रणय का वही प्रमोद विहार, पुनः दिखलादो तनिक निहार॥
सकल सुख सौरभ के आगार॥४॥

तुम्हें ही लखूं नित्य निर्द्वन्द, चपल चंचल मन हो निस्पन्द।
'प्रभु' के हृदय गगन के चन्द, तुम्हीं बन जाओ हे व्रजचन्द
भावना यही निभादो पार॥५॥

पुराण-गाथा

(परमहंसों की कथा)

[ले० श्री पूज्य स्वामी भोले बाबा जी]

श्रीकृष्णार्पितचित्तानां, यथा शास्त्र प्रवर्तिनाम् ।
शोक मोह विमुक्तानां, पादाम्बुजानुपास्महे ॥

महाभारत के संग्राम में जब भीष्म पितामह गंगापुत्र शर शय्या पर शयन कर रहे थे, अन्य द्रोणादि वीर योधा वीरगति को प्राप्त हो चुके थे, वृकोदर भीम ने गदा से धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधन की जंघा तोड़ डाली थी, तब द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा अपने स्वामी दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिये पांडवों के डेरे में गया और वहां सोते हुये. द्रौपदी के पांच पुत्रों का शिर काट कर दुर्योधन के पास ले आया। दुर्योधन अश्वत्थामा के इस निन्द्य कर्म से प्रसन्न न हुआ, बल्कि उसने उसकी निन्दा की। सच है, पापी के सब मनोरथ निष्फल जाते हैं और उसको नरक की ही प्राप्ति कराते हैं, द्रौपदी बालक बच्चों का मरण सुन कर आंखों में आंसू भर कर व्याकुल होकर विलाप करने लगी, उस समय अर्जुन द्रौपदी को आश्वासन देते हुए इस प्रकार प्रतिज्ञा करने लगे।

अर्जुन-हे भद्रे ! मैं आततायी ब्राह्मण का शिर गांडीव धनुष से छोड़े हुये तीक्ष्ण बाणों से काट कर तुम्हारे पास लाऊंगा और तुम्हारा शोक दूर करूंगा। जब उन शिरों पर चढ़ कर तुम स्नान करोगी, तब मृतक पुत्रों के शोक से मुक्त होगी।

इस प्रकार प्रिया को समझा कर अच्युत भगवान सारथी सहित रथ पर आरूढ होकर उस धनुष वाला अर्जुन अश्वत्थामा के साथ युद्ध करने को चला। बच्चों के मरने से उद्विग्न मन वालेअर्जुन को दूर से आता हुआ देख कर अश्वत्थामा प्राण बचाने की इच्छा से इस प्रकार भयभीत होकर भागा, जिस प्रकार रुद्र को देख कर सूर्य भागे थे ❀। अर्जुन ने उसके पीछे रथ दौड़ाया, अश्वत्थामा के रथ के घोड़े थक गये, जब प्राण बचाने का उसे कोई उपाय न सूझा, तब उसने प्राण बचाने के लिये अर्जुन के लिये ब्रह्म अस्त्र छोड़ने का विचार किया, यद्यपि वह ब्रह्मास्त्र का चलाना ही जानता था, इसके लौटाने की युक्ति नहीं जानता था। उसने जल लेकर और समाहित होकर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। ब्रह्म अस्त्र का प्रचंड तेज सर्व दिशाओं में फैल गया। प्राणों पर आपत्ति आती हुई देख कर अर्जुन श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहने लगे:-

अर्जुन-हे जनार्दन ! आप भक्तों को अभय देने वाले हैं, संसार दावानल से जलते हुओं के लिये आपही अपवर्ग रूप शान्ति हैं ! आप आद्य हैं अर्थात् चराचर जगत् के कारण हैं, आप पुरुष हैं अर्थात

❀ यह कथा इस प्रकार है विद्युन्माली नामक एक राक्षस ने शिवजी को प्रसन्न किया। शिव ने उसको सूर्य सम दीप्तिमान् एक सुवर्ण का विमान दिया, वह राक्षस उस पर चढ़कर सूर्य के पीछे घूमने लगा, जिससे रात्री को भी सूर्यवत् प्रकाश से दिन रहने लगा। तब सूर्य ने कुपित होकर अपने असीम असह्य तेज से उस विमान को नष्ट कर दिया। ऐसा देख कर कृपालु शिवजी परम कुपित होकर सूर्य के पीछे दौड़े और सूर्य भागते २ वाराणसी में आकर गिर पड़े और वहां लोलार्क नाम से प्रसिद्ध हुये।

(काशी खंड)

अस्ति, भाति, प्रिय रूप से समस्त विश्व में पूर्ण हैं अथवा देव' दानव, मनुष्यादि शरीर रूप सब पुरियों में आप शयन करते हैं, आप साक्षात् ईश्वर हैं अर्थात् सब को नियम में रखने वाले हैं, आप प्रकृति से पर हैं अर्थात् सत्व, रज और तम तीनों गुणों से अतीत चित् शक्ति से माया का निरादर करके आप कैवल्य आत्म स्वरूप में स्थित हैं ! वेही आप माया से मोहित जीव लोक का अपने पराक्रम से धर्म रूप कल्याण करते हैं। पृथिवी का भार उतारने के लिये आपका अवतार हुआ है, अपने अनन्य भक्तों के ध्यान करने के लिये आप बारंबार देह धारण करते हैं। यह परम दारुण तेज जो सर्व दिशाओं में फैल रहा है, हे देव देव ! वह क्या है, और कहां से आया है, मुझे बताइये, मैं इस को नहीं जानता और इसकी निवृत्ति का उपाय भी नहीं जानता।

श्री भगवान् हे पार्थ ! द्रोण पुत्रके ब्रह्मास्त्रका यह तेज है, प्राणों पर संकट आने से उसने यह अस्त्र चला तो दिया है परन्तु वह इस का संहार यानी लौटाना नहीं जानता, इस अस्त्र को रोकने वाला, ब्रह्मास्त्र के सिवाय दूसरा अस्त्र नहीं है, तुम शस्त्र विद्या में निपुण हो, इसलिये ब्रह्मास्त्र से ही इस ब्रह्मास्त्र को शान्त करो !

शत्रु सेना को दमन करने वाले अर्जुन ने भगवान् के उपरोक्त वाक्य सुन कर जल हाथ में लिया और भगवान् की परिक्रमा करके ब्रह्मास्त्र के शान्त करने के लिये ब्रह्मास्त्र चलाया। ब्रह्मास्त्र से छूटे हुये दोनों बाण आकाश में एकत्र हो गये और दोनों ने अपने अपने तेज से सूर्य और अग्नि के समान अन्तरिक्ष और आकाश को ढक लिया। दोनों अस्त्रों के तेज को देख कर तीनों लोक जलने लगे और जलती हुई सब प्रजा को प्रलयकाल आया हुआ सा प्रतीत हुआ। अर्जुन ने देखा कि थोड़ी देरमें प्रजा का नाश हो जायगा और वासुदेव की भी ऐसी ही इच्छा है कि अस्त्रों को लौटा लेना चाहिये। ऐसा विचार कर अर्जुन ने दोनों अस्त्रों को अपने पास लौटा लिया। पश्चात् लालनेत्र वाल अर्जुन ने गौतमी सुत अश्वत्थामा के पास आकर जैसे पशु को रस्सी से बांध लेते हैं, इसी प्रकार बांध लिया। जब अर्जुन अश्वत्थामा को रस्सी में बांध कर अपने डेरे की ओर ले चला तब कमलनयन ब्रह्मण्य भगवान् ब्राह्मण का अपकार न रहते हुये परिक्षा लेने के निमित्त कुपित होकर यह व्यंग वचन अर्जुन से बोले।

श्रीभगवान् हे पार्थ ! तुम इस दुष्ट ब्राह्मण को मार डालो, तुम को इसकी रक्षा करना उचित नहीं है क्योंकि निरपराधी सोते हुये बालकों को इसने रात में वध किया है। मदमत्त, प्रमत्त असावधान, उन्मत्त सोई, सोता हुआ, बालक, स्त्री, मूर्ख, शरणागत, रथरहित, और डरा हुआ शत्रु इन को धर्मज्ञवीर नहीं मारते। जो निर्दय, दुष्ट दूसरे के प्राणों से अपने प्राण पोषण करता है, उसका मरजाना ही उसके लिये कल्याणकारी है, क्योंकि वह अपने पाप से अधोगति को प्राप्त होता है, इसके सिवाय द्रौपदी से मेरे सन्मुख उसके शिर काट कर लाने की तुमने प्रतिज्ञा भी की है, इसलिये हे वीर ! इसको मार डालो क्योंकि यह आततायी है और अपने बांधवों का मारने वाला है, अपने कुल को कलंक लगाने वाला है और इसने यह दुष्ट कर्म करके अपने स्वामी को भी प्रिय नहीं किया, किन्तु अप्रिय ही किया है, यह वध करने के योग्य ही है।

भगवान् के इस प्रकार के व्यंग वचन सुन

कर अर्जुन अपने मन में इस प्रकार विचारने लगे

अर्जुन-भगवान् मेरे धर्म की परीक्षा लेने को इस प्रकार कह रहे हैं, इसने निरपराधी बालकों का वध किया है फिर भी मुझे इसको मारना उचित नहीं है क्योंकि भगवान् स्वयं कहते हैं कि मदमत्त को प्रमत्त को, उन्मत्त, को सोते हुये को, बालक को, स्त्री को, मूर्ख को, शरणागत को और डरे हुये को धर्मज्ञ वीर नहीं मारते, ये सब लक्षण अश्वत्थामा में घटते हैं, मदमत्त, प्रमत्त, और उन्मत्त तो यह है ही, यदि ऐसा न होता, तो सोते हुये निरपराधी बालकों को क्यों मारता। ऐसा निन्द्य कार्य करना मदमत्त, प्रमत्त और उन्मत्त का ही कार्य है। यह पराधीन है, इसलिये बालक, स्त्री और मूढ के समान ही है, मेरे बंधन में है, इसलिये शरणागत है। रथ रहित और डरा हुआ तो प्रत्यक्ष में है ही। पराये प्राणों का हरण करना, इसने अपनी जीविका कर रक्खी है, इसलिये यह मरे हुये के समान ही है, अपने पाप से यह आप ही मर चुका है, मरे हुये का मारना मुझे उचित नहीं है क्योंकि यह ब्राह्मण है। साधारण ब्राह्मण की हत्या करना भी उचित नहीं है, यह तो मेरे गुरु का पुत्र है। गुरु भी कैसे सरल स्वभाव वाले कि अपने पुत्र को ब्रह्मास्त्र चलाना ही सिखाया और मुझे तो प्रयोग और संहार दोनों बतायें ऐसे गुरु का पुत्र होना अन्य ब्राह्मणों से इसमें विशेषता है। इसके मारने की प्रतिज्ञा द्रौपदी के संमुख मैंने अवश्य की है परन्तु द्रौपदी की क्या इच्छा है, यह भी तो मुझे जानना चाहिये। अन्य मेरे भाइयों का मत भी मुझे जानना चाहिये। सहसा कोई कार्य करना विचारवान् को योग्य नहीं है, बिना विचारे तो मूढ कार्य करते हैं, उनको अन्त में पछताना पड़ता है, इसलिये मुझे विचार कर कार्य करना चाहिए।

ऐसा विचार कर अर्जुन ने गुरु पुत्र को मारने की इच्छा नहीं की किंतु वह उसको अपने डेरे में जहां उसकी प्रिया द्रौपदी अपने मरे हुये पुत्रों का शोक कर रही थी, ले आया और द्रौपदी के सामने उसको खड़ा कर दिया। इस प्रकार निरादर के साथ पशु की समान रस्सी में बंधे हुये और अपने निन्दनीय कर्म के कारण लज्जा से नीचा मुख किये खड़े हुये गुरुपुत्र अश्वत्थामा को सुशीला द्रौपदी ने दयादृष्टि से देखा और प्रणाम किया। सती द्रौपदी गुरुपुत्र की दुर्दशा को देख न सकी और गंभीर, उदार, करुणायुक्त वाणी इस प्रकार बोली-

द्रौपदी- हे वीर इन गुरुपुत्र को छोड़ दो, छोड़ दो, मैं इनकी यह दुर्दशा देख नहीं सकी! यह ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण सहज ही जगत् का गुरु होता है, यह तो तुम्हारे गुरु के पुत्र हैं। अन्य ब्राह्मणों से विशेष प्रतिष्ठा के पात्र हैं! जिन द्रोणाचार्य से तुमने रहस्य सहित धनुर्वेद की शिक्षा पायी है, प्रयोग तथा संहार सहित सब अस्त्र पाये हैं, वे ही यह भगवान् द्रोणाचार्य जी साक्षात खड़े हुये हैं। इन्हीं द्रोण जी की इस प्रतिमूर्ति को देख कर उनकी अर्धांगिनी कृपी देवी सती नहीं हुई हैं, नहीं तो उनके साथ अवश्य ही सती होजातीं। हे महाभाग! आप धर्मज्ञ हैं, आप धर्मज्ञ द्वारा आपके गुरुकुल को किसी प्रकार कष्ट न पहुंचना चाहिये क्योंकि गुरुकुल नित्य पूजन और प्रणाम करने योग्य है, यह धर्मशास्त्र का मत है। इन की माता परम पतिव्रता, साध्वी गौतमी जैसे अपने पुत्रों के लिये मैं रो रही हूं, इसी प्रकार अपने पुत्र की मृत्यु से न रोवें! जैसा हम को दुःख होता है, इसी प्रकार सब को दुख होता है। जब हम दुःख नहीं चाहते, तो हमको औरों को भी मन से, वाणी

से और कर्म से दुःख न देना चाहिये। जिन अजितेन्द्रिय राजाओं ने वृक्ष वंश को कुपित किया है और करते हैं, उनके कुल को शोक जनित ब्रह्मकोप ने भस्म किया है और कर देता है।

द्रौपदी के धर्म, न्याय, और दयासे युक्त सत्य समतायुक्त और उच्च श्रेणी के वचनों की धर्म पुत्र युधिष्ठिर ने प्रशंसा की, नकुल, सहदेव, सात्यकी, अर्जुन, भगवान् श्री कृष्ण और अन्य स्त्री पुरुष ये वचन सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुये किन्तु उग्र रूप भीमसेन इस प्रकार कहने लगे।

भीम-हे भाई अर्जुन! जिसने सोते हुये निरपराधी बालकों को व्यर्थ ही मार डाला, उसको छोड़ देना योग्य नहीं है। बालकों के मारने में न तो इस निर्दयी का ही हित था। और न इसके स्वामी दुर्योधन का ही कोई अर्थ था। बिना कारण ही इसने सोते हुये बालकों को मार डाला है, इस का तो मार देना ही भला है, इस का मारना धर्म अथवा न्याय से विरुद्ध नहीं है किन्तु सर्वथा ही न्याय है, इस को मार देना ही उचित है।

भीमसेन और द्रौपदी के वाक्य सुन कर चतुर्भुज भगवान् सखा अर्जुन के मुख की तरफ देखते हुये, मुसकराते हुये इस प्रकार धर्म और नीतियुक्त वचन बोले।

श्री भगवान्-हे भाई पार्थ? ब्राह्मण का वध करना धर्म विरुद्ध है और आततायी को मारना नीति शास्त्र से विरुद्ध नहीं है, ये दोनों ही वाक्य मेरे कहे हुये हैं, इन दोनों वाक्यों की जिस प्रकार रक्षा हो, वही कार्य तुम को करना चाहिये। तुम नीतिज्ञ और धर्मज्ञ पुरुष हो, विचारवान भी हो, विचार कर कार्य करो! द्रौपदी को धैर्य देते हुये तुम प्रतिज्ञा कर चुके हो, वह तुम्हारी प्रतिज्ञा मिथ्या न हो, भीमसेन की, हमारी और द्रौपदी की इच्छा भी पूर्ण हो, ऐसी युक्ति से कार्य करो!

चतुर अर्जुन श्री भगवान् के अभिप्राय को समझ गये। उन्होंने अश्वत्थामा के शिर के केश खड्ग से काट कर उसके शिर में स्थित मणि को निकाल लिया और बालहत्या के कारण तथा मणी निकल जाने से तेजहीन हुये अश्वत्थामा को बन्धन से मुक्त करके डेरे से बाहर निकाल दिया, क्योंकि सिर मूंड देना, धन ले लेना और स्थान से निकाल देना, ये ही तीन दण्ड ब्राह्मणों के लिये शास्त्र में कहे हैं, अन्य वध आदि दैहिक दंड ब्राह्मणों के लिये नहीं हैं। पश्चात् पुत्र शोक से आतुर द्रौपदी सहित सब पांडवों ने युद्ध में मरे हुये बांधवों का पिंडदानादि प्रेत कर्म किया।

साध्वी सती द्रौपदी का शील और आचार किस आर्य पुरुष के मन को पिघला न देगा और किस को आह्लाद दायक और शिक्षाप्रद न होगा? सभी के मन को प्रफुल्लित करेगा और सब को धर्म, नीति और दया का पाठ पढ़ावेगा। पुत्रों के शोक से आतुर हुई भी द्रौपदी धर्म को न भूली, ब्राह्मण गुरु के उपकार को न भूली! वाह री देवी! द्रौपदी! आप की यह कीर्ति जब तक सूर्य और चन्द्र हैं, संसार में सूर्य चन्द्रके प्रकाश के समान ही फैली रहेगी! द्रोहका बदला द्रोह से तो सभी दे जानते हैं, द्रोह का बदला करुणा दया से देने वाली आप ही हैं, तभी तो विद्वानों ने आप को पंचकन्याओं में गणना की है। तभी भक्तवत्सल भगवान् ने दुर्योधन की भरी सभा में आप की लज्जा रखने के लिये आप का चीर इतना लम्बा कर दिया था कि दश गज

चीर को दश गज का बल रखने वाला दुःशासन खैंचते २ थक गया परन्तु दश गज चीर का अन्त न आया। अन्त में अभिमानी दुराचारी को लज्जित होना पड़ा! आपके ऐसे आचार से ही भगवान् ऐसे प्रसन्न थे कि कुसमय में आकर आपकी बटलोई के शाक का एक पत्ता खा कर संसार भर को तृप्त कर दिया और दुर्वासा जी का तो उनके शिष्यों सहित ऐसा पेट फुला दिया कि महात्मा जी को भागते ही बना! हे देवी! यह आप के शील, आचार और भगवद्भक्ति की ही महिमा थी। आपके चरित्र हमको शीलवान्, आचारवान्, भक्तिमान्, उदार और गंभीर बनाते हैं! हे देवी! आप धन्य हैं, आपके चरित्र लिखने वाले व्यास आदि धन्य हैं, आप के चरित्र सुनाने वाले शुकादि धन्य हैं! आप परमहंसों के चरित्र ही हम कलियुगी जीवों के लिये आधार रूप हैं। आपके चरित्रों का अनुकरण करके ही हम कलियुगी जीव भक्ति ज्ञान प्राप्त कर सक्ते हैं और शिष्ट पुरुषों के आचरणों के अनुगामी हो सक्ते हैं। आप के चरित्रों के सिवाय संसार सागर से तारने वाला अन्य कोई सुलभ उपाय नहीं है।

भाई! अर्जुन! आप भी भगवत् के सखा धन्य हैं। जिन्होंने ब्राह्मण की रक्षा करके धर्म शास्त्र का पालन किया, गुरु भक्ति दिखलायी, पिता का कहना किया, भाइयों को भी प्रसन्न किया, अपनी भी प्रतिज्ञा रक्खी, भगवान् की आज्ञा का पालन किया। आप की भक्ति अपूर्व है जभी तो भगवान् आप के सारथी बने, दूत बने, भृत्य बने, यह सब आप की भक्ति का ही प्रभाव है। आप का जन्म संसार में लोकोद्धार के लिये ही हुआ है! आप को मोहादिक कुछ नहीं था, हम कलियुगी जीवों पर दया कर के आपने मोह धारण करके भगवान् से गीतामृत की वर्षा कराई, जिस में स्नान करके और जिस को पान करके करोड़ों मनुष्य कृतार्थ हो चुके हैं, हो रहे हैं और आगे होते रहेंगे! आप का नाम लेने से करोड़ों जन्मों के पाप क्षय होते हैं, इस में किंचित् भी संशय नहीं है और आपके चरित्र पढ़ने पढ़ाने और सुनने सुनाने से परम गति प्राप्त होती है। इस में भी रंचक मात्र संदेह का काम नहीं है व्यास भगवान् का वचन इस में प्रमाण है। लोकमें भी प्रसिद्ध है कि सवेरे महात्मा का नाम लेने से मनोकामना सिद्ध होती हैं। फिर आप के चरित्रों के गान से श्रेय की प्राप्ति क्यों न होगी। अवश्य होगी। कागभुशुंडि का वचन है कि भगवत् से भी मुझे भगवत् के दास प्रिय हैं, फिर आप भक्तों के गुणों का गान करने से अवश्य ही कल्याण होना संभव है। अंत में भगवान् से यह ही हार्दिक प्रार्थना है कि आप के भक्तों के चरित्रों में हमारी दिन प्रति दिन अधिक प्रीति हो, इनके चरित्रों का ही गान करें और उन का ही सर्वथा अनुकरण करें! भक्ति के पाठक और पाठिकाओं से नम्र प्रार्थना है कि द्रुपदनन्दनी की कथा आप स्वयं पढ़ें अपने इष्ट मित्रों को सुनावें, द्रौपदी के वाक्य सुवर्ण के अक्षरों से लिख कर अपने भजन करने के कमरे में टांग रक्खें, इतना न हो तो स्याही से ही सही, इतना भी न होतो अपने स्वच्छ मन की पट्टी पर तो अवश्य अंकित करलें, ऐसा करने से आप विचारवान् होजायेंगे तीनों ताप आप से कोसों मंजिलों दूर रहेंगे! और आप की छाती सर्वदा शीतल रहेगी। सच कहा है कि-

कुं-सज्जन संगति कीजिये, यदि चाहो कल्याण।
शान्ति लहो इस लोक में, पीछे पद निर्वाण॥

पीछे पद निर्वाण, संत संगति से मिलता।
अक्षय मिलती शांति, शोक भय सारा गलता॥
भोला! दुर्जन त्याग, मोहकारक हैं दुर्जन।
निशदिन करि सत्संग, शोक हारक हैं सज्जन॥

अवतार सम्प्रदाय और श्रीरामकृष्ण।

तृतियांक से आगे

[ले० श्री स्वामी मेघेश्वरानन्द जी]

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर श्री रामकृष्ण ने इन पांच प्रकार के भावों का ही साधन किया और सभी में सिद्ध हुये। फिर अद्वैत और इसाई एवं मुसलमानों के उपदिष्ट मार्गों के अनुसार साधन कर के सिद्ध हुये। अब प्रश्न यह है कि इतने मतों के साधन करने की क्या आवश्यकता है? मेरी क्षुद्र दृष्टि में इसके दो उद्देश्य देख पड़ते हैं। पहला श्री रामकृष्ण जैसे समन्वय और असाम्प्रदायिक आचार्य के सभी प्रकार की साधन प्रणाली से परिचित होना अत्यावश्यक है। क्यों कि हम देखते हैं कि विभिन्न मार्गावलम्बी साधक आप के पास आकर आपसे अपना साधनानुकूल उपदेश और सहायता पाकर एवं आपके भीतर अपने आदर्श की परिपूर्णता देखकर आश्चर्यान्वित होजाते थे और पूर्ण तौरसे साधन भजन करके सिद्ध होने का प्रयत्न करते थे। सिद्ध महापुरुषगण भगवान् को अपने मत के चलनेवाले आचार्य की भांति ऐश्वर्यवान होने पर भी आपके समन्वय का भाव देख कर मुग्ध हो जाते थे और इस विशाल शक्ति के सामने शिर झुका कर अपने अपने एकदेशी भावों को छोड़ दूसरे मतों के साथ सहानुभूति रखने लगते थे। यह श्रीरामकृष्ण के जीवन का बड़ा भारी विशेषत्व और नूतनत्व है। दूसरा उद्देश्य यह है कि हमारी यह एक धारणा सी हो गई थी कि इस कलियुग में कोई भगवान् को लाभ नहीं कर सकता। इसी कारण शास्त्रवाक्यों में हमारा विश्वास बहुत घट गया था। इसीलिये भगवान् ने विभिन्न मतों का साधन करके और सिद्ध होकर हमें यह दिखाया कि शास्त्र मिथ्या नहीं हैं। परन्तु यदि हम श्रद्धा और निष्ठा के साथ शास्त्रोक्त उपदेशानुसार काम करें तो अवश्य ही सफल हो सकेंगे। हम देखते भी हैं कि जहां लोग श्रीरामकृष्ण के भाव से परिचित होने लगे वहीं धार्मिक जगत् में मानो नव प्राण का संचार हो गया है। बंगाल में धर्म की सब से बड़ी ग्लानि हुई थी। कारण यह है कि वहां पाश्चात्य सभ्यता ने सब से पहिले जड़ पकड़ ली थी। वहां के नव युवक अपने जातीय आदर्शों को तिलांजली देकर वैदेशिक भाव से भावित हो गये थे और भगवान् को लाभ करने की प्रचेष्टा तो अलग ही रही दैनिक कर्त्तव्य सन्ध्या वन्दनादि करना भी फिजूल समझते थे। परन्तु श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव के पश्चात् वहां के युवकों में धर्म जीवन का एक नूतन अध्याय सा ही खुल गया। आज सैकड़ों उच्च शिक्षित युवक मुमुक्षु होकर कठोर संन्यास व्रत को भी वरण कर रहे हैं। मद्रास में भी करीब करीब यही हाल है।

हम और भी देखते हैं कि भगवान् श्री रामकृष्ण देव निरक्षर थे। इससे यही सूचित होता है कि

तत्त्व लाभ के लिये किताबी विद्या की कोई आवश्यकता नहीं है। किताबी विद्या हमें रुपये पैसे, खाना कपड़ा सुख सम्पद आदि ऐहिक भोग्य वस्तुयें दे सकती है। पांडित्य और मेधा से तत्त्व की पचेष्टा भारी भूल है। श्रुति बतलाती है:-

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः
न मेधया न बहुना श्रुतेन।" (कठ,२०)

परन्तु जब धर्म की ग्लानि हुई थी तब शास्त्र कतिपय पढ़े लिखे आदमियों के कब्जे में हो गये थे। धर्म के विषय में कुछ जानने की जरूरत पड़ने स हमें-उन्हीं की शरण में जाना पड़ता था और उनकी राय को हम अध्यात्मिक शास्त्र का चरम सिद्धान्त मानते थे। धीरे धीरे हममें यही खयाल पैदा हुवा कि बिना पांडित्य के धर्म कर्म नहीं होसकते। भगवान श्री रामकृष्ण ने स्वयं निरक्षर होकर अपने जीवन से हमें दिखाया कि परा विद्या के लिये किताब पढ़ने की ऐसी कुछ विशेष आवश्यकता नहीं है। आप सदैव कहा करते थे "ग्रन्थ ना गांठ" अर्थात् ग्रन्थ यानी पुस्तक पाठ से हम जो पांडित्य लाभ करते हैं उससे हममें जिया-दह अभिमान उत्पन्न होता है। कभी कहते थे 'गीध ऊंचा चढ़ता है परन्तु उसका मन रहता है मुर्दों के ऊपर।" वैसा ही मनुष्य शास्त्र की चर्चा द्वारा लम्बी लम्बी बातें करने पर भी उनका मन कामिनी और कांचन रूपी तुच्छ विषयों में ही रहता है विवेक वैराग्य और भगवान् के ऊपर अनुराग से ही भगवत् साक्षात्कार हो सकता है। श्रीरामकृष्ण देव आजीवन विवेक और वैराग्य का मानो प्रतिमूर्त्ति थे। आपकी विचार बुद्धि, त्याग, तितिक्षा और निस्पृहता की पूरी तौर से आलोचना इस क्षुद्र लेख में असम्भव है। परन्तु यहां के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि राजों के ऐश्वर्य पैरों पर न्योछावर हो जाने से भी इस देव मानव की चाल कभी नहीं बदली, आप सदैव भगवत् प्रेम में मस्त और सर्व त्यागी बने रहते थे। आप का भगवदनुराग बड़ा ही अद्भुत था, कभी 'मां' 'मां' की पुकार से गगन और पवन को प्लावित करते थे और आंसुओं की धारा से वक्षस्थल भीग जाता था, कभी रो रो कर धरती पर गिर पड़ते थे और मिट्टी में ऐसे जोरों से मुंह घिसते थे कि खून निकलने लगता था। आप की 'मां' 'मां' की पुकार और रोदन ध्वनि से आदमी इकट्ठे होजाते थे। कोई कहता था कि 'बिचारे की माता मर गई है।' कोई सज्जन राय देते थे कि 'बस के पेट में पित्तशूल की बिमारी पैदा होगई है।' इतना प्रबलानुराग साधारण मनुष्यों में हो ही नहीं सकता, असाधारण शक्ति सम्पन्न आध्यात्मिक जगत् के एकछत्र सम्राट् भगवान श्रीरामकृष्ण जैसे देव मानव में ही इतनी आन्तरिकता, सत्यलाभ के लिये इस प्रकार का प्रबलानुराग और उद्देश्य को पूरा करने के लिए ऐसा दुर्दमनीय उत्साह सम्भव है। इनके लिए इसकी आवश्यकता भी होती है। क्योंकि इनका जीवन हर तरह से हमारा आदर्श स्थल है। इनके जीवनालोक में इस अन्धकार पूर्ण संसार में हमें किरणें दिखाई देती हैं। अतः हम देखते हैं कि श्रीराम कृष्ण का निरक्षर होना भी हमारे हित के ही लिये था। क्योंकि इस निरक्षर पुजारी के त्याग, तितिक्षा और अनुराग आदि के सामने हमारा पांडित्याभिमान चूर चूर हो जाता है। हम थोड़ीसी भक्ति और विश्वास लाभ करने के लिए उन्हीं के चरण तले गिर पड़ते हैं। तत्त्वज्ञान लाभके लिए आप ही के शरण में आजाते हैं।

(अपूर्ण)

भजन

बलि बलि जाऊ मधुर सुर गावो ॥

अबकी बेर मेरे कुंवर कन्हैया नन्दहि नाच दिखावो ॥१
तारी दै दै अपने कर की परम प्रीति उपजावो ॥२॥
आन जन्तु धुनि सुनि डरपत कत मो भुज कंठ लगावो ॥३
जिन शंका जिय करो लाल मेरे काहे को शरमावो ॥४
बांह उठाय काल्ह को नाई धौरी धेनु बुलावो ॥५॥
नाचो नेक जाऊं बलि तेरी मेरी साध पुरावो ॥६॥
रत्न जटित किंकणि पग नूपुर अपने रंग बजावो ॥७॥
कनक खंभ प्रतिबिम्ब आपनो नव नवनीत खवावो ॥८
परम दयालु सूर के स्वरते टारे नेक न जावो ॥९॥

२

बलि बलि जाऊं छबीले लाल के ॥

घूसर घूर घुटुरुवन डोलन,
बोलत बचन रसाल के ॥१॥
छिटक रही चहुं दिशि जो लटुरिया,
लटकनि लटकन भाल के ॥२॥
मोतिन सहित नासिका नथुनी,
कंठ कमल दल माल के ॥३॥
कछु इक हाथ कछुक मुख माखन,
चितवन नयन विशाल के ॥४॥
सूरदास प्रभु प्रेम मगन है,
टिग न तनत ब्रज बाल के ॥५॥

३

प्रभु ने कैसी रेल बनाई ॥ टेक ॥

तन की गाड़ी मन का इंजन क्रोध की आग जलाई ।
पानी रुधिर अपार भरो है मन के वेग लै जाई ॥
स्वांस की सीटी बजाई ॥१॥
नाड़ी खबर तार देने को दशों ओर फैलाई ।
इन्द्रिन के तो बने स्टेशन ज्ञान की घटी बजाई ॥
धर्म की खेप लदाई ॥२॥
उत्तम मध्यम अधम तीन हैं दरजे इस के बनाई ।
कर्म अकर्म की टिकट बटत हैं पाप पुण्य पहुंचाई ॥
सुनिये कान लगाई ॥३॥
जीव आत्मा बैठयो इस में अपनो टिकट दिखाई ।
देख ने वाला वह जगदीश्वर जिस ने रेल चलाई ॥
देखिये अचरज भाई ॥४॥

४

राजन् ! कौन तिहारे आवे ॥

ऐसो भाव विदुर को देख्यो वह गरीब मोहे भावे ॥१
हस्ती देख धर्म ते भूला श्री भगवान् न जाना ॥ २ ॥
तुमरो दूध विदुर को पानी अमृत कर मैं आना ॥३॥
खीर समान साग मैं पाया गुण गावत रात विहानी ॥
कबीर को ठाकुर आनन्द विनोदी जाति न काहू की मानी

५

परमात्म गुरु निकट विराजें जाग २ मन मेरे ।टेक।
धायके सद्गुरु चरणन लागो काल खड़ा सिर तेरे ।
छिन २ पल २ सभी संहारे बहु विधि देत न देरे ॥१
जुगन २ तोहे सोवत बीता अजहुं न जाग सवेरे ।
काम क्रोध मद लोभ फन्द तज छमा दया दिल हेरे ॥
भाई बन्धु कुटुम्ब कबीला सब स्वारथ के चेरे ।
जब जम जालमें आन पकरि है कोई न संग चले रे ॥
भवसागर बांकी है धारा लख चौरासी फेरे ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो जग से किये निबेरे ॥४

६

क्या सोवो सुमिरन की बिरियां ॥

जिन सिरजा तिन की सुधि नाहीं ।
भरम फिरो झक झलति झलरिया ॥ २ ॥

गुरु उपदेश सन्देश कहत हैं।
भजन करो चढ गगन अटरिया ॥ २ ॥
नित उठ पांच पचीस को झगरा,
व्याकुल मेरी सुरत सुन्दरिया ॥ ३ ॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो।
भजन बिना तोरि सूनो नगरिया ॥ ४ ॥

७

हरि के नाम बिना दुख पावै ॥
भक्ति बिना संशय नहीं छूटे गुरु यह भेद बतावै ॥ १॥
कहा भयो तीरथ व्रत कीन्हें राम शरण ना न्हावै ॥
योग यज्ञ निष्फल तेहि मानो जो प्रभु यश बिसरावै ॥
मान मोह दोनों को परिहरि गोविन्द के गुण गावै ॥४
कह नानक ये ही विधको प्राणी जीवन मुक्त कहावै ॥५

८

काया हरि के काम न आई ॥ टेक ॥
भाव भगति जहं हरि यश सुनियो तहां जात अलसाई।
लोभातुर ह्वै काम मनोरथ तहां सुनत उठि धाई ॥ २॥
चरण कमल सुन्दर जहं हरि को क्यों हूं न जात नवाई॥
जब लगि श्याम अंग नहिं परसत आंखे जाग रमाई ॥
सूरदास भगवंत भजन बिनु विषय पर विष खाई ॥ ५

९

नैना भये अनाथ हमारे ॥
मदन गोपाल यहां ते सजनी सुनियत दूर सिधारे ॥
वे हरि जल हम मीन बापुरी कैसे जिवहीं निवारे ॥२॥
हम चातक चकोर श्यामघन बदन सुधा निधि प्यारे ॥
मधुवन बसत आश दरशन की नैन सोई मग हारे ॥
सूर श्याम करो विष ऐसो मूतक हूं ते पुनि मारे ॥५॥

१०

बिरहिन सुनो पिया की बानी ॥
सहज स्वभाव मूल रहू रहनी सुनो शब्द सुरति तानी।
शील सन्तोष के बांधो कांगर होय रहो मगन दिवानो
दुई फल तोड़ मिलो हंसन में सोई नाम निशानी ॥
तत्त भेष धारै जो बिरहिन हो पिय के मन मानी ॥
कुमति जराय सुमति बजियारी तब सुरत ठहरानी ॥
सो हंसा सुख सागर पहुंचे भरै मुक्ति जहां पानी ॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो यह पद है निर्बानी ॥
जो या पद की निन्दा करि है ताको नरक निशानी ॥

११

ऐसो रहन रहै बैरागी ॥
सदा उदास रहे मया से सत्य नाम अनुरागी ॥
क्षमा को कण्ठी शील सरोनी सुरति सुमरनी लागी।
टोपी अभय भक्ति माथे पर काल कल्पना त्यागी ॥
ज्ञान गूदड़ी मुक्ति मेखला सहज सुई ले तागी।
जुक्ति जमात कूबरी करना अनहद धुनि लौ लागी ॥
शब्द अधार अधारी कहिये भीख दया की मांगी ॥
कहै कबीर प्रीति सतगुरु से सदा निरंतर लागी ॥

१२

धुनि सुन के मनुवां मगन हुवा ॥
लाय समाज रहो गुरु चरणा अन्तकाल दुःख दूर हुवा
शुन्य शिखर पर झालर झलके बर्षै अमीरस बूंद चुवा
सुरत निरत की डोरी लागी तेहि चढ़ हंसा पार हुवा ॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो अगम पन्थ पर पाव दिया